दार्शनिक शोध-साहित्य : ग्रन्थ २

परिभाषा और विश्लेषण

—परिभाषान्याय निर्णय

परिभाषा और विश्लेषण

—परिभाषाप्रत्ययानिर्णय

लेखक

आनन्दप्रकाश पाण्डेय

एम० ए०, डी० फिल०

दर्शन पीठ

१७७ टैगोर टाउन

इलाहाबाद

☐ प्रकाशक

दर्शन पीठ
१७७ टैगोर टाउन
इलाहाबाद-२११००२
१९८७ ई०

इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

ISBN 81-85115-02-8

☐ मूल्य : रुपये पचहत्तर

☐ मुद्रक :
शुभचिन्तक प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद ६

जन्म	निर्वाण
ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी	श्रावण शुक्ल प्रतिपदा
सं० १९६२ वि०	सं० २०४४ वि०

श्रीसरस्वत्यै देव्यै नमः

कीर्तिशेष

पूज्यतमा पितामही को

पावन स्मृति में ।

—आनन्दप्रकाश पाण्डेय

परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते ।

—नागोजीभट्ट द्वारा

उद्योत २-१-१ मे उद्धृत ।

प्राक्कथन

प्रत्येक शास्त्र परिभाषा का प्रयोग करता है। विशेषतः तर्कशास्त्र, गणित, विज्ञान, व्याकरण और भाषा-विज्ञान मे परिभाषा का केन्द्रीय और संरचनात्मक महत्त्व है। प्राय: प्रश्न भी उठता है कि परिभाषाएँ किसी शास्त्र के आरम्भ मे आती है या अन्त मे ? वे शास्त्र-आरम्भक है या शास्त्र-उपसंहारक ? दोनो मतो के प्रबल पक्षधर है। एक तीसरा भी मत है कि वे किसी शास्त्र के मध्य मे आती है। किन्तु यद्यपि इस प्रकार परिभाषाएँ प्रत्येक शास्त्र के लिए अनिवार्य है, तथापि वे तर्कतः अपने शास्त्र के बहिर्भूत है और उनको विवशतावशात् ही माना जाता है। जब शास्त्र का कार्य अपनी प्रणाली से आगे नहीं बढ़ता तब उस स्थल पर परिभाषाएँ की जाती है जिनसे उसकी प्रगति आगे बढ़ती है। परिभाषाएँ अनियम-निवारक है। जहाँ कोई नियम सुलभ नहीं है वहाँ वे एक नियम प्रदान करती है। उनका अपना न्याय है जो निगमन तथा आगमन दोनो से प्रकारतया भिन्न है। परिभाषा का तर्कशास्त्र सम्पूर्ण तर्कशास्त्र का तृतीयांश है। परिभाषा-सिद्धान्त आधिवैज्ञानिक (मेटासाइन्टिफिक) और आधिभाषिक (मेटालिंग्विस्टिक) है। उसका विषय-क्षेत्र अधितर्कशास्त्र (मेटालॉजिक) है। यह तर्कशास्त्र भाषा और विज्ञान की लाचारी है कि वे अपनी स्पष्टता और सुसंगति के लिए परिभाषा की शरण में जाते हैं। परिभाषा संपूर्ण वाङ्मय की स्वामिनी है।

अतः स्पष्ट है कि परिभाषा के तर्कशास्त्र का महत्त्व उल्लेखनीय है। किन्तु उसका जितना महत्त्व है उसका उतना अनुशीलन तथा अनुसन्धान अभी तक नही किया गया है। अंग्रेजी मे परिभाषा के ऊपर केवल एक पुस्तक है, रिचर्ड राबिन्सन की। संस्कृत मे व्याकरण की परिभाषाओं पर कई लघु पुस्तके है किन्तु उनमे परिभाषा का तर्कशास्त्र नही है। ऐसी परिस्थिति मे मुझे हर्ष है कि मेरे पुत्र डॉ० आनन्दप्रकाश पाण्डेय ने मेरे निर्देशन में परिभाषा के तर्कशास्त्र के ऊपर अनुसन्धान किया और उसके शोध पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने उसे डी० फिल० की उपाधि प्रदान की। उसका अनुशीलन अधुना परिभाषा और विश्लेषण-परिभाषा-न्याय-निर्णय, शीर्षक से प्रकाशित हो रहा है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, भारतवर्ष मे परिभाषा के ऊपर लिखा गया यह पहला ग्रन्थ है। आशा है यह तर्कशास्त्र का आगमी विकास करने वालो के लिए ही नही वरन् प्रत्येक शास्त्र के पाठको के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा क्योकि परिभाषा की उपयोगिता सामान्य भाषा और शास्त्रीय भाषा

दोनो मे है। आजकल सामान्य भाषा का अध्ययन ज्यो ज्यो विकसित हो रहा है त्यों त्यो परिभाषा का अध्ययन भी बढ रहा है।

समकालीन विश्लेषणात्मक दर्शन तथा नव्य न्याय के पिपासु जिज्ञासुओं के लिए तो यह ग्रन्थ प्रपा ही है। इन विषयो पर यहाँ जो शोधपूर्ण सामग्री सरल तथा सुबोध भाषा में प्रस्तुत की गयी है वह सर्वथा मौलिक और प्रामाणिक है। प्रस्तुत ग्रन्थ नि सन्देह संग्रहणीय और अभ्यसनीय है।

१५-३-८७

संगमलाल पाण्डेय
प्रोफेसर एव अध्यक्ष
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तावना

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि डॉ० आनन्द प्रकाश पाण्डेय का शोध-प्रबन्ध छप रहा है। इसको मैंने बहुत सावधानी से पढ़ा है। मेरे विचार से यह परिभाषा पर लिखा गया एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस विषय पर किसी भारतीय भाषा मे मुझे कोई भी ग्रन्थ देखने को नहीं मिला है। इसी से डॉ० पाण्डेय के ग्रन्थ की मौलिकता का अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने परिभाषा के महत्त्व, प्रकार, विधि, प्रयोजन और न्याय का जो वर्णन किया है उसका युगान्तरकारी महत्त्व है। उससे एक नये प्रकार के चिन्तन का शुभारम्भ हुआ है।

इस ग्रन्थ मे मुझे निम्नलिखित विषयों का विवेचन बड़ा ही उपयोगी और मौलिक लगा है—

(१) परिभाषा-सिद्धान्त में श्रौत सूत्रों की भूमिका।

(२) व्याकरण-दर्शन के परिभाषा-सिद्धान्त और परिष्कार-विधि।

(३) प्राचीन न्याय का परिभाषा-सिद्धान्त (दोनो भारतीय और योरोपीय)

(४) नव्य-न्याय की परिभाषा-विधियाँ।

(५) समकालीन विश्लेषण और उसकी पद्धतियो का निरूपण एवं परिभाषा से उनका सम्बन्ध।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि डॉ० पाण्डेय का यह ग्रन्थ न केवल तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए वरन् भाषा-विज्ञान तथा विविध विज्ञानो के विद्यार्थियों के लिए भी महत्त्वपूर्ण होगा।

१५-८-८७

अर्जुन मिश्र

एम० ए०, पी० एच-डी०, डी० लिट०

दर्शन विभाग

प्रोफेसर एव अध्यक्ष

डा० हरिसिंह गौड विश्वविद्यालय,

सागर (म०प्र०)

पुरोवाक्

ज्ञान की प्रत्येक विधा के विवेचन, परिष्कार तथा उन्नयन के लिये परिभाषा और विश्लेषण आवश्यक है। वस्तुतः दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया तथा विकास इनसे अनिवार्य रूप से जुड़े हुये हैं। तर्कशास्त्र तथा दर्शन के विकास के साथ-साथ परिभाषा के अध्ययन का महत्त्व बढ़ता गया है और समकालीन पाश्चात्य दर्शन से इसका सम्बन्ध अभिन्न है। यह सही है कि परम्परागत तर्कशास्त्र मे अनुमान का जितना अध्ययन किया गया है उतना परिभाषा का नहीं। किन्तु दर्शन के क्षेत्र में जैसे-जैसे परिकल्पनात्मक चिन्तन की अपेक्षा चिन्तनगत स्पष्टता पर अधिक जोर दिया जाने लगा उसी के अनुसार अर्थ-निर्धारण के लिये भाषा के विश्लेषण का महत्त्व बढ़ गया और विश्लेषण से परिभाषा के सम्बन्ध की अनिवार्यता को स्वीकारते हुये तर्कशास्त्रियो तथा दार्शनिको ने इस क्षेत्र मे अनुसंधान कर सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन को नई दिशा तथा नये आयाम प्रदान किये। इस पर गणित के क्षेत्र मे हुये शोध और अनुसधानो का भी गहरा प्रभाव पड़ा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे लेखक ने लक्षण तथा परिभाषा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन तथा परम्परागत पाश्चात्य परिभाषा-सिद्धांत तथा पाश्चात्य तर्कशास्त्र की परिभाषा-विधियों का समीक्षात्मक अध्ययन किया है। इसमें प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विश्लेषणवादियो के सिद्धांतों की संक्षिप्त विवेचना उपलब्ध है तथा नैयायिकों के परिभाषा-सिद्धात से इनकी तुलना की गई है। न्याय-दर्शन तथा समकालीन विश्लेषणवादी दार्शनिको के परिभाषा-सिद्धात के तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन के आधार पर लेखक ने एक ऐसे परिभाषा-सिद्धात को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है जिसके आधार पर अन्य सिद्धांतो का मूल्यांकन किया जा सके। इस दृष्टि से ग्रन्थ में लेखक के मौलिक चिन्तन की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ दार्शनिक चिन्तन के नये आयाम के विकास मे

१३-११-१९८७

जगदीश प्रसाद शुक्ल
एम ए, पी-एच. डी.
प्रोफेसर और अध्यक्ष
दर्शन विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर (म० प्र०)

आमुख

व्याप्तं सदसद्वादध्वान्तविध्वंसभास्करम् ।
वाग्नाथं परिभाषार्थं वक्ष्ये न्यायावबुद्धये[1] ।।

परिभाषा-शास्त्र एक प्रकार का न्याय-शास्त्र है। संस्कृत में लौकिक न्याय का सम्पूर्ण सम्प्रदाय है जिसे परिभाषा-शास्त्र के अन्तर्गत रखा जा सकता है। वास्तव मे न्याय-दर्शन की, जो तीन प्रवृत्तियाँ, उद्देश, लक्षण और परीक्षा, है, वे परिभाषा-शास्त्र के कार्य हैं। इसी प्रकार व्याकरण और गणित मे परिभाषा का मूलगामी महत्त्व है। इन शास्त्रों में परिभाषा के विशिष्ट-विशिष्ट अर्थ किये गये है। उदाहरण के लिए पाणिनि-व्याकरण के आधुनिक व्याख्याकार महामहोपाध्याय प० जयदेव मिश्र ने परिभाषेन्दुशेखर की विजयाटीका मे परिभाषा की परिभाषा निम्न प्रकार से की है :—

अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित-साधुत्व-प्रकारक-बोधोपयोगिनः
शक्त्यविषयकस्य साधुत्वाप्रकारकस्य च बोधस्य जनिका परिभाषा[2] ।।

अर्थात् परिभाषा उस पद-ज्ञान की जननी है जो अप्रमाणित ज्ञान द्वारा भुलावें मे न डाले, शुद्ध शब्द-प्रयोग मे उपयोगी हो, जो शक्ति का विषय न हो और जो स्वत. शुद्ध शब्द-प्रयोग के प्रकार का न हो।

किन्तु परिभाषा का यह परिष्कृत लक्षण संस्कृत व्याकरण की परिभाषाओं पर ही घटित होता है क्योंकि सामान्यतः लोक-व्यवहार मे परिभाषा शक्ति-विषयक भी होती है। इसी प्रकार गाटलोब फ्रेग ने गणित मे परिभाषा का विशिष्ट लक्षण किया है और उसके नियम बताये है। हमने परिभाषा के २१ विशिष्ट लक्षणों के अतिरिक्त न्याय-दर्शन और विश्लेषणात्मक-दर्शन मे उपलब्ध परिभाषा के लक्षणों का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विशेष विवेचन किया है और निष्कर्ष निकाला है कि भाषा मात्र का सम्बन्ध परिभाषा से होता है क्योंकि परिभाषा भाषा को चारो तरफ

---

१. यह श्लोक दुर्गसिंह लिखित कातन्त्रपरिभाषा सूत्रवृत्ति के निम्न श्लोक मे थोड़ा परिवर्तन करके यहाँ बनाया गया है—
प्रणम्य सदसद्वादध्वान्तविध्वंसभास्करम् ।
वाग्नाथं परिभाषार्थं वक्ष्ये बालावबुद्धये ।।

२. नागेश भट्ट, परिभाषेन्दुशेखर पर प० जयदेव मिश्र की विजया टीका।

से व्यापृत करती है और भाषा जन्य अस्पष्टता श्लिष्टता अनेकार्थकता छलना आदि दोषों को दूर करती है। एक प्रकार से परिभाषा भाषा की स्वामिनी है, वह भाषा-भास्कर है।

आजकल जिसे दार्शनिक-विश्लेषण कहा जाता है वह न्यायदर्शन की परिष्कार-विधि है। परिष्कार और विश्लेषण न्याय-मार्ग हैं। न्याय का यहाँ अर्थ किसी पद को पदार्थ तक ले जाना है। इस अर्थ मे न्याय-सम्बन्धी अनेक नियम मीमासा और लोकमत मे प्रचलित हैं जिन्हे क्रमशः मीमासा-न्याय और लौकिक-न्याय कहा जाता है। उनकी सख्या अनियत है। परन्तु जब किसी शास्त्र को तर्कत सुव्यवस्थित किया जाता है तब यथासम्भव परिभाषाएँ कम-से-कम स्वीकार की जाती है। कारण, परिभाषाएँ लाचारी मे ही स्वीकार की जाती हैं। यदि विना परिभाषाओ के काम चल सकता है तो भाषा-व्यवहार या शास्त्र-व्यवहार स्वमार्ग पर है। जहाँ भाषा-व्यवहार या शास्त्र-व्यवहार अपने आन्तरिक नियमों से नही चलते वहाँ उनको सन्मार्ग पर लाने के लिए परिभाषा की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार परिभाषाओं का एक अपना तर्कशास्त्र है जो भाषा के तर्कशास्त्र या किसी शास्त्र के तर्कशास्त्र से भिन्न है और उनकी सहायता के लिए अभ्युपगमित किया जाता है।

परिभाषा-शास्त्र के अन्तर्गत जिन विषयो का अध्ययन किया गया है, वे है परिभाषा का अर्थ, परिभाषा और विश्लेषण, परिभाषा और परिष्कार, परिभाषा और लक्षण, परिभाषा के प्रकार, परिभाषा की विधियाँ, परिभाषा के दोष, परिभाषा की कसौटियाँ और परिभाषा के सिद्धान्त। इन सभी विषयो का यहाँ जो विवेचन किया गया है उसमें परिभाषा के सप्रत्ययात्मक स्वरूपवादी सिद्धान्त को प्रस्तावित किया गया है। हमारा निष्कर्ष है कि परिभाषा का मुख्य विषय सप्रत्यय होता है जिसका अपना एक निजी स्वरूप होता है।

हमारे अध्ययन के जो परिणाम निकले है उनमें से निम्न को हम रेखांकित करना चाहते है :—

(१) समकालीन दार्शनिक विश्लेषण मूलतः वही कार्य कर रहा है जो न्याय-दर्शन में परीक्षा और परिष्कार करते है।

(२) समकालीन विश्लेषण-दर्शन न्याय-दर्शन की प्रणाली को गलत नही सिद्ध करता। उल्टे, वह उसको परिपुष्ट करता है।

(३) यद्यपि विश्लेषणात्मक दर्शन ने परिभाषा के अनेक प्रकारों, प्रयोजनों और विधियों का आविष्कार किया है तथापि उसने उसका पूर्ण विवरण नही प्रस्तुत किया है। न्याय-दर्शन ने भी परिभाषा की कुछ नई विधियों को जन्म दिया है जिनका

विवरण अभी तक समकालीन विश्लेषणात्मक दर्शन में नहीं है पुनश्च परिभाषा के दोषों का जितना विशद वर्णन न्याय-दर्शन में है उतना विश्लेषणात्मक दर्शन में नहीं है। परिभाषाओं के परिष्कार पर जितना बल न्याय-दर्शन ने दिया है उतना विश्लेषणात्मक दर्शन ने नहीं।

(४) न्याय-दर्शन और विश्लेषणात्मक दर्शन के परिभाषा-शास्त्र का परस्पर समायोजन सम्भव तथा उपयोगी है, क्योंकि दोनों लौकिक अनुभव और लौकिक शब्द-प्रयोग पर आधारित हैं।

(५) यद्यपि परिभाषाएँ लाचारी में की जाती हैं तथापि वे आवश्यक और उपयोगी हैं।

प्रस्तुत विषय पर शोध करने की प्रेरणा मुझे अपने पूज्य पिता प्रोफेसर संगमलाल पाण्डेय से मिली थी। उन्हीं के निर्देशन में मैंने शोध कार्य भी किया और यथासम्भव उनके गूढ़ विचारों को आत्मसात् करने का प्रयास किया। उन्होंने संस्कृत के कई ग्रन्थों को मुझे परिश्रमपूर्वक पढ़ाया और मेरी सारी शंकाओं का समाधान किया। पुनश्च पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन को परिभाषा-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य से देखने की प्रेरणा भी मुझे उन्होंने ही दी। यदि उनका सक्रिय निर्देशन न मिलता तो मैं अपने कार्य को वर्तमान रूप में सम्पन्न न कर पाता। मैं अपने शोध-प्रबन्ध के लिये सचमुच उनका ऋणी हूँ। उनसे आनृण्य पाना मेरे लिए सम्भव भी नहीं है।

जिन अन्य गुरुजनों से मुझे समय-समय पर विशेष सहायता मिलती रही है उनमें उल्लेखनीय हैं प्रो० शिव शंकर राय, अवकाशप्राप्त प्रोफेसर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डॉ० देवकीनन्दन द्विवेदी, रीडर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रो० जगदीश प्रसाद शुक्ल, प्रोफेसर और अध्यक्ष, दर्शन विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, प्रो० अर्जुन मिश्र, प्रोफेसर और अध्यक्ष, सागर विश्वविद्यालय, प्रो० केदारनाथ तिवारी, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भागलपुर विश्वविद्यालय, और डॉ० हृदय नरायण मिश्र, रीडर दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय सागर। इन सब के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ और उनकी सहायताओं के लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध मेरा शोध-प्रबन्ध है जिस पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने मुझे डी० फिल० की उपाधि प्रदान की है। मेरे शोध-प्रबन्ध के परीक्षक थे प्रो० सदाशिव शिवदास बारलिंगे, भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पुणे, प्रो० विश्वम्भर पाही, प्रोफेसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर और प्रो० जगदीशसहाय श्रीवास्तव, प्रोफेसर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद

विश्वविद्यालय इलाहबाद इन तीनो परीक्षको ने मेरे शोध प्रबन्ध की सराहना की है और उसे प्रकाशन-योग्य ठहराया है। उन्हो के प्रेरणा से मैने इसके प्रकाशन का प्रबन्ध किया है। आशा है इसके प्रकाशन से उन्हे प्रसन्नता होगी। सचमुच मै इन तीनों प्रोफेसरो का आजन्म ऋणी रहूँगा। उन्होंने अपनी सस्तुति से मेरा उत्साह बढ़ाया है। उनको धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है।

अन्त मे मुझे अपने शोध-प्रबन्ध की कमजोरियो का भी ज्ञान है। किन्तु आशा है विद्वान् गण उन्हें क्षमा करेंगे। वास्तव में मुझ-जैसे व्यक्ति कहाँ कोई नया सिद्धान्त दे सकते हैं ? मैंने तो केवल अपनी वाणी मे अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के मतों को प्रस्तुत कर दिया है। जयन्त भट्ट के शब्दो मे मैं कह सकता हूँ—

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्॥

दीपावली
२२-११-८७

आनन्दप्रकाश पाण्डेय

विषय-सूची

प्राक्कथन द्वारा प्रो० संगमलाल पाण्डेय		७
प्रस्तावना द्वारा प्रो० अर्जुन मिश्र		९
पुरोवाक् द्वारा प्रो० जगदीश प्रसाद शुक्ल		१०
आमुख	....	११
१ लक्षण का महत्त्व	....	१७
२ लक्षण की संभावना	....	२१
३ लक्षण के प्रयोजन	....	३२
४ परिभाषा और परिष्कार	....	३९
५ परम्परागत पाश्चात्य परिभाषा-सिद्धान्त	...	६५
६ परिभाषा के प्रकार	....	७७
७ पाश्चात्य तर्कशास्त्र की परिभाषा-विधियाँ	....	९३
८ विश्लेषण और परिभाषा	....	१०६
९ परिभाषा, न्याय और विश्लेषण	....	१२६
नामानुक्रमणिका	....	१४१

1

लक्षण का महत्त्व

(१) लक्षण और परिभाषा, इन दोनों शब्दों का प्रयोग आजकल प्राय एक ही अर्थ में किया जा रहा है। उदाहरणके लिए द्रव्य का क्या लक्षण है और द्रव्य की क्या परिभाषा है? ये दोनों प्रश्न एकार्थक है और दोनों का उत्तर है कि जो गुण या क्रिया का आश्रय हो वह द्रव्य है। इस वाक्य को द्रव्य का लक्षण या द्रव्य की परिभाषा कहा जाता है। परन्तु इन दोनों पदों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भिन्न-भिन्न है। लक्षण का आरम्भ में तात्पर्य था वह जो लक्ष्य में रहता है, जैसे ऊपर जो द्रव्य का लक्षण किया गया है उसके अनुसार द्रव्य गुणाश्रय या क्रियाश्रय होता है और गुण या क्रिया द्रव्य मे होते है। इस प्रकार लक्षण तात्त्विक होता है। इसके विपरीत परिभाषा का आरम्भ मे भाषा से सम्बन्ध था और परिभाषा भाषिक प्रयोग को निश्चित करती थी। इस अर्थ में परिभाषा केवल पद की होती है, वस्तु की नही। वस्तु का लक्षण होता है और पद की परिभाषा होती है। परन्तु इन दोनों शब्दों का यह अर्थ कालान्तर मे नही रह गया और ये दोनों पर्यायवाची हो गये। परिणामतः अब वस्तु की परिभाषा और पद का लक्षण ऐसी पदावली का व्यवहार होने लगा है। अतः इन दोनों पदों का प्रयोग यहाँ प्रायः एक ही अर्थ मे किया जायेगा।

(२) परिभाषा का महत्त्व तर्कशास्त्र मे विशेष रूप से है। जब से तर्कशास्त्र का उद्भव हुआ है तब से लेकर आजतक तर्कशास्त्रियोंने परिभाषा का विवेचन किया है। उनके विचार से तर्कशास्त्र के प्रमुख विषय दो है—परिभाषा और अनुमान। कुछ तर्कशास्त्री तो यह भी मानते है कि अनुमान का मूल आधार परिभाषा है। अन्य तर्कशास्त्री मानते है कि परिभाषा की एक अपनी विचार-पद्धति है जो अनुमान-पद्धति से भिन्न और समानान्तर है। इन मान्यताओं से परिभाषा का महत्त्व आँका जा सकता है। यही कारण है कि तर्कशास्त्र के प्रत्येक पाठ्यग्रन्थमें परिभाषा का विवेचन किया जाता है। किन्तु फिर भी अनुमान का जितना अध्ययन तर्कशास्त्र के इतिहास

में किया गया है उतना परिभाषा का अध्ययन नहीं किया गया है। अधिकांश पाठ्यग्रंथों में आज भी परिभाषा का वही विवेचन किया जाता है जिसे पश्चिम में सर्वप्रथम अरस्तू ने किया था और भारत में न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन ने। परन्तु अनुमान के विकसित अध्ययन ने आज परिभाषा के नवीन अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इस कारण परिभाषा का अनुशीलन करना आधुनिक परिप्रेक्ष्य में परम आवश्यक है।

(३) पुनश्च यद्यपि यह माना जाता है कि परिभाषा की समस्याएँ प्रायः नहीं के बराबर हैं, तथापि जैसा कि रेजियल ऐबेल्सन कहते हैं ज्ञान की कोई समस्या उतनी कम सुनिश्चित नहीं है जितनी परिभाषा की समस्या है और परिभाषा के नवीन अध्ययन की जितनी अधिक आवश्यकता है उतनी किसी दूसरे विषय की नहीं है।[1] इस कारण परिभाषा के तर्कशास्त्र का अध्ययन आजकल अनेक क्षेत्रों में किया जा रहा है। उनमें से तीन क्षेत्र विशेष महत्वपूर्ण हैं—

(क) गणित का क्षेत्र।

(ख) दर्शन का क्षेत्र।

(ग) भाषा का क्षेत्र।

(४) गणित की परिभाषाओं की अपनी परम्परा है जो अरस्तू और गौतम की परम्परा से असंबधित और अर्वाचीन है। यह परम्परा गणित के विषयों को परिभाषित करती है, उनके प्रयोग का नियम बताती है और गणित के सुव्यवस्थित विकास को संभव बनाती है। काण्ट कहते हैं कि गणित ही एकमात्र विज्ञान है जिसमें परिभाषाएं होती हैं और गणित की सुनिश्चितता परिभाषाओं, स्वयंसिद्धियों तथा उपपत्तियों पर निर्भर करती है। वे यह भी मानते हैं कि गणित का आरम्भ-बिन्दु परिभाषा को ही होना चाहिये तथा गणित की परिभाषाएँ कभी गलत नहीं हो सकती हैं।[2] पुनश्च स्वयंसिद्धियों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि वे वास्तव में अव्यक्त परिभाषाएँ (Implicit Definition) हैं। इसलिए काण्ट ने गणित के जो तीन आधार बताये वे वस्तुतः परिभाषा और अनुमान के अन्तर्गत हैं क्योंकि स्वयंसिद्धियाँ अव्यक्त परिभाषाएँ हैं और उपपत्तियाँ अनुमान हैं। बीसवीं शताब्दी में गणित और तर्कशास्त्र का अभेद स्थापित किया गया और तर्कगणित के कई प्रस्थान निर्मित किये गये जिनमें परिभाषा की मौलिक भूमिका है। रिचर्ड राबिन्सन ने गणित की परिभाषाओं को छः प्रकारों में बाँटा है :—

(१) संक्षेप (२) प्रत्ययों का विश्लेषण, (३) गणित के किसी प्रस्थान के विशेष

प्रत्ययों का प्रत्ययात्मक विश्लेषण (४) प्रत्ययों का परिष्कार) प्रतीकों की परिभाषा और (६) परिभाषा-समकक्षीकरण ।[3]

परिभाषा का यह विकास रसेल और ह्वाइटहेड द्वारा रचित प्रिंसिपिया मैथमेटिका (Principia Mathematica) में अपने पूर्णरूप में निखरा है। इस ग्रन्थ का प्रभाव तर्कशास्त्र पर बहुत अधिक पड़ा है। इससे प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र विकसित हुआ है और इसने परम्परागत तर्कशास्त्र को बचकाना या आरंभिक तर्कशास्त्र सिद्ध किया है। अन्त में इसने एक नई दार्शनिक विधि का प्रवर्तन किया है जिसे विश्लेषण कहा जाता है और जिसका प्रभाव परिभाषा-सिद्धान्त के आधुनिकीकरण पर अनिवार्य हो गया है।

(५) दर्शन के क्षेत्र में आजकल जिस विश्लेषण-विधि का प्रयोग किया जा रहा है उसका संबंध परिभाषा-विधि से जितना है उतना अनुमान-पद्धति से नहीं है। यह विश्लेषण भारतीय न्यायशास्त्र के भी अनुकूल है। नैयायिक लोग जिस प्रकार न्याय से अर्थ-बोध प्राप्त करते थे उसी विधि को समकालीन दर्शन में विश्लेषण-विधि के नाम से अपनाया जा रहा है। परिभाषा-विधि के अन्तर्गत भारतीय न्याय की तुलना आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन से करना दोनों के लिए उपादेय है क्योंकि इससे भारतीय न्याय का परिष्कार तथा आधुनिकीकरण होता है और विश्लेषण विधि को भारतीय न्याय से परिष्कार के नियम उपलब्ध होते हैं। यह बड़े महत्त्व का विषय है कि विगत कई शताब्दियों में जो मौलिक भारतीय दार्शनिक चिन्तन हुआ है वह नव्य-न्याय में ही हुआ है और नव्य-न्याय ने समस्त भारतीय शास्त्रों को अपनी विधि और पदावली से वैसे ही पुनः परिभाषित किया है जैसे आज विश्लेषणात्मक दर्शन सभी विज्ञानों और विशेषतः सामाजिक विज्ञानों और मानविकी को पुनः परिभाषित कर रहा है। इस तुलना के मूल में जाना और विश्लेषण के नियमों का पता लगाना अधुना परम आवश्यक है।

(६) बीसवीं शताब्दी में दर्शन और परिभाषा को अधिकांश दार्शनिकों ने अभिन्न कर दिया है। इस कारण भाषिक दर्शन सर्वाधिक मान्यता-प्राप्त समकालीन दर्शन हो गया है जिसका बाइबिल विटगेन्स्टाइन का फिलसाफीकल इनवेस्टिगेशन्स (Philosophical Investigations) है। इस दर्शन के अनुसार परिभाषा के अध्ययन की नवीन और फलप्रद संभावनाएँ विकसित हुई हैं। भारतवर्ष में भी इस दृष्टि से पाणिनीय व्याकरण का दर्शन विकसित हुआ है जिसकी तुलना समकालीन भाषिक दर्शन से आजकल की जा रही है। भारतीय न्याय-दर्शन में शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना समकालीन भाषिक दर्शन के लिए प्रासंगिक तथा उपयोगी है। शब्द प्रमाण जिस दार्शनिक कर्म की सूचना देता है वह मूलतः परिभाषा-विधि का

व्यापार है। लगता है कि पश्चिम में आज जो भाषिक विश्लेषण हो रहे हैं उनकी परिणति शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करना है। न्याय-दर्शन के क्षेत्र में यह प्रक्रिया पहले घट चुकी है। अतः न्याय-दर्शन की भूमिका आज भी दर्शन के क्षेत्र में पूर्ववत् बनी है। शब्द-बोध समकालीन दर्शन में जितना केन्द्रीय है उतना वह प्राचीन या मध्ययुगीन दर्शन में नहीं था। इससे सिद्ध होता है कि न्याय-दर्शन के परिभाषा-सिद्धान्त और आधुनिक विश्लेषण-दर्शन के परिभाषा का तुलनात्मक अध्ययन वर्तमान दार्शनिक दिशा के निर्धारण में उपयोगी है।

(७) उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परिभाषा-सिद्धान्त का तार्किक अनुशीलन महत्वपूर्ण है और उसको कई दृष्टियों से किया जा सकता है। सामान्यतः उसका अनुशीलन गणित की दृष्टि से किया जा सकता है, भाषा की दृष्टि से किया जा सकता है अथवा दार्शनिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से किया जा सकता है। किन्तु हम यहाँ इन तीनों से भिन्न एक तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत विषय का अध्ययन करना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य केवल न्यायदर्शन और समकालीन विश्लेषणात्मक दर्शन में परिभाषा के सिद्धान्त का अध्ययन करना है। स्पष्ट है कि हमारे इस अध्ययन से गणित की परिभाषाएँ तथा भाषिक दर्शन की परिभाषाएँ छूट जायेंगी।

(८) प्रस्तुत अध्ययन की विधि ऐतिहासिक न होकर तार्किक और समस्यात्मक है। परिभाषा-सिद्धान्त से संबधित जितनी मुख्य समस्याएँ है उनको पहचानना, उनका विश्लेषण करना तथा न्यायदर्शन और विश्लेषणात्मक दर्शन में किये गये उनके निरूपणों का तुलनात्मक विवेचन करना इस अध्ययन का प्रथम महत्वपूर्ण पक्ष है। किसी ऐसे परिभाषा-सिद्धान्त को प्रस्तावित करना जो न्याय-दर्शन और विश्लेषणात्मक-दर्शन दोनों को मान्य हो तथा उस सिद्धान्त के अनुसार अन्य परिभाषा-सिद्धान्तों की आलोचना करना प्रस्तुत अध्ययन का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है।

संदर्भ और टिप्पणी

१ No problems of knowledge are less settled than those of definition and no subject is more in need of a fresh approach. "Definition" in the *Encyclopedia of Philosophy*, ed. Paul Edwards, volume I p. 314.

२ *Critique of Pure Reason*, Immanuel Kant, English Translation, Norman Kemp Smith, Mac-Millan, London, 1956, P. 585-589.

३ *Definition*, Richard Robinson, Oxford 1954 p. 200

2

लक्षण की संभावना

(९) प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है। यदि किसी प्रमेय को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है तो वह प्रमेय असिद्ध है। अतः सिद्धान्त-रूप से कहा जा सकता है कि मेयसिद्धि मानाधीन है। मानाधीना मेयसिद्धिः, यह मत सर्वथा सत्य है।

(१०) पुनश्च प्रमाण की सिद्धि लक्षण से होती है। जब तक किसी प्रमाण का लक्षण निर्दोष रूप से न किया जा सके तब तक वह प्रमाण मान्य और उपादेय नहीं हो सकता है। यदि उसका लक्षण सदोष है तो वह अमान्य और अनुपादेय होगा। अत: प्रमाण-सिद्धि लक्षणाधीन है, यह मत भी सर्वथा सत्य है।

(११) अब प्रश्न है कि लक्षण-सिद्धि कैसे होती है? उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी प्रमाण या किसी प्रमेय के द्वारा लक्षण सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सभी प्रमाण और सभी प्रमेय लक्षण के परवर्ती है और साक्षात् या परम्परया (Indirectly) लक्षणाधीन है। अत: प्रश्न उठता है कि लक्षण की सिद्धि कैसे होती है?

(१२) सभी प्रमाणों का खण्डन करने वाले अद्वैत वेदान्ती दार्शनिक श्रीहर्ष कहते है कि लक्षण का प्रत्यय अनुपपन्न है। उनके मत से लक्षण के प्रत्यय की सिद्धि असम्भव है। इसलिये लक्षण व्यर्थ है।[1]

(क) अपने पक्ष में श्रीहर्ष कहते हैं कि यदि लक्षण की सिद्धि स्वयं लक्षण से होती है तो लक्षण में आत्माश्रय दोष होगा।

(ख) फिर यदि किसी लक्षण की सिद्धि लक्षणान्तर से होती है और लक्षणान्तर की सिद्धि उस लक्षण से होती है तो लक्षण के प्रत्यय में चक्रक दोष होगा।

(ग) पुनश्च यदि लक्षणान्तर की सिद्धि किसी अन्य लक्षण से होती है और अन्य से अन्य की सिद्धि का क्रम चलता रहता है तो इस क्रम से अनवस्था-दोष हो जाता है।

(घ) फिर यदि इस क्रम को कहीं बीच में ही तोड़ दिया जाय तो लक्षण के प्रत्यय में असिद्धि नामक दोष होगा, क्योंकि वह आमूल सिद्ध नहीं होगा।

(च) अन्त में यदि लक्षण के प्रत्यय को सत्ता मात्र से या ज्ञान मात्र से सिद्ध किया जाय, तो फिर लक्षण के प्रत्यय में अतिप्रसग (अतिव्याप्ति होगा)।

इस प्रकार लक्षण के प्रत्यय मे आत्माश्रय, चक्रक, अनवस्था, असिद्धि और अतिप्रसंग दोष है। अतः लक्षण का प्रत्यय निरर्थक और असिद्ध है।

(१३) श्री हर्ष के पहले नागार्जुन ने मध्यमक-शास्त्र मे सिद्ध किया था कि न लक्ष्य संभव है और न लक्षण[2]। उन्होंने इस मत को निम्नलिखित तर्क से सिद्ध किया था :—

(क) यदि लक्षण करने के पूर्व कोई वस्तु हो तो उसमे अलक्षणत्व होगा। परन्तु कोई ऐसी वस्तु संवेद्य नहीं हो सकती जो अलक्षण हो। इसलिए लक्षण के पूर्व कोई वस्तु नहीं हो सकती है। और यदि वह है तो वह आकाश—कुसुम की तरह अलक्षण और असवेद्य होगी। इसलिए उसमे लक्षण की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती।

(ख) अलक्षण वस्तु में लक्षण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह आकाश-कुसुमवत् है। फिर सलक्षण वस्तु में भी लक्षण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वहां लक्षण निष्प्रयोजन है। यदि सलक्षण वस्तु का पुन. लक्षण किया जाय तो अन-वस्था-दोष होगा जो अनिष्ट है। यदि कोई वस्तु सलक्षण और अलक्षण दोनों है तो उसमें भी लक्षण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि यह विप्रतिषिद्ध है। जो विप्रति-सिद्ध है वह असंभव है।

अलक्षणे लक्षणस्य प्रवृत्तिर्न सलक्षणे।
सलक्षणालक्षणाभ्यां नाप्यन्यत्र प्रवर्तते ॥[3]

(ग) लक्षण के असभव होने से लक्ष्य असिद्ध है और लक्ष्य के असिद्ध होने से लक्षण असभव है।

लक्षणासम्प्रवृत्तौ च न लक्ष्यमुपपद्यते।
लक्ष्यस्यानुपपत्तौ च लक्षणस्याप्यसंभवः ॥[4]

(१४) जयराशि भट्ट ने तत्त्वोपप्लवसिंह में लक्षण को निरर्थक बतलाते हुए, सबसे पहले यह कहा कि मेय स्थिति प्रमाण-निबन्धन है और प्रमाण-व्यवस्था सत्-लक्षण-निबन्धन है और यदि सत् लक्षण न हो तो प्रमाण और मेय संभव नहीं है। उनका अभिप्राय है कि प्रमेय और प्रमाण के द्वारा लक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि वे स्वयं लक्षणाधीन है। पुनश्च प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के लिए जिस पद का व्यवहार होता है वह पद अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता है, क्योंकि किसी

नित्यपद में विज्ञानादि अर्थक्रिया को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है इसलिए कोई लक्ष्य-रूपी पद नहीं है और उसके अभाव के कारण लक्षण निर्विषय है।

पुनश्च जो लक्षण-वाक्य है उसका कोई लक्षण है या नहीं? यदि है, तो फिर उस लक्षण का भी लक्षण होना चाहिए और इस प्रकार अनवस्था-दोष हो जाता है, जिसके कारण किसी पद का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। और यदि लक्षण-वाक्यों का लक्षण नहीं है तो फिर लक्षण का अभाव होने के कारण उन लक्षण वाक्यों की भी समीचीनता नहीं है[५]।

(१५) लक्षण पर की गयी आपत्ति का निराकरण **खंडन-खंडखाद्य** की आलोचना करने वाले नैयायिक गोकुल नाथ उपाध्याय ने **खंडनकुठार** में और अभिनव वाचस्पति मिश्र ने **खंडनखाद्योद्धार** में किया है। उनसे भी पहले भी भासर्वज्ञ ने **न्यायभूषण** में लक्षण की संभावना को प्रतिपादित किया है। उनके प्रतिपादन के आधार पर श्री हर्ष को निम्नलिखित उत्तर दिया जा सकता है। (क) लक्ष्य का ज्ञान लक्षण से ही देखा जाता है। उदाहरण के लिए बहुत सी गायों के बीच हम अपनी गाय को उसके असाधारण लक्षण से पहचान लेते है। यदि हम उसके लक्षण से अनभिज्ञ रहते हैं तो सन्देह में पड़ जाते हैं। इसलिए जब कहा जाता है कि प्रत्येक लक्षण को दूसरे लक्षण से निश्चित करने पर आत्माश्रय, चक्रक, अनवस्था आदि दोष होंगे तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ सदेह होता है वहीं किसी लक्षण को निश्चित करने की आवश्यकता पड़ती है। सर्वत्र लक्षण को निश्चित करने की आवश्यकता नहीं होती है।

(ख) संदेह के स्थल पर भी विशेष का संदर्शन होने के कारण निश्चय होता है। यदि कहा जाय कि यह निश्चय लक्षण के ज्ञान से नहीं होता तो ठीक नहीं है क्योंकि विशेष, अंक व चिह्न और लक्षण—ये चारों शब्द पर्यायवाची है। इनमें से कोई भी उपस्थित हो तो लक्षित वस्तु का निश्चय हो जाता है।

(ग यदि लक्षण में अतिव्याप्ति को दोष बताया जाय तो कहा जायेगा कि अतिव्यापक और अव्यापक विशेष से भी लक्षण का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए विलक्षण सींग से हम अपनी गाय को पहचान लेते हैं यद्यपि सींग होना गाय का अतिव्याप्त लक्षण है। इसी प्रकार द्रव्य के क्रियावान् होने के कारण हम द्रव्य को पहचान लेते है, जैसे इच्छा, क्रिया के द्वारा हम आत्मा को पहचान लेते हैं, यद्यपि क्रियावान् होना अव्याप्त लक्षण है। यही नहीं, निरर्थक और अव्यापक लक्षण भी कभी-कभी अपने विषय का निश्चय करा देता है।

(घ)यदि लक्षण पर शंका की जाय और उस शंका का निवारण लक्षणान्तर से किया जाय तो ऐसी विप्रतिपत्ति होने पर अनवस्था दोष होता है। किन्तु ऐसी

विप्रतिपत्ति सर्वत्र नहीं होती । यदि ऐसी विप्रतिपत्ति होने लगे तो फिर कोई प्रतिपत्ति नहीं हो सकती । तब हम किसी पुरुष से कोई सलाप भी नहीं कर सकते है और वृक्ष इत्यादि को देखकर जो कहेंगे वह उन्मत्त प्रलाप मात्र होगा । अतः यह मानकर चलना आवश्यक है कि हम कुछ विषयों का लक्षण निश्चित रूप से जानते है । श्रीहर्ष की आपत्ति ऐसे संशयवाद को जन्म देती है जो आत्यन्तिक हो जाता है । परन्तु आत्यन्तिक संशयवाद आत्मघाती होता है । अतएव वह अनुपपन्न है । उसका निराकरण करने के लिए भासर्वज्ञ ने जो युक्तियाँ दी है वे सामान्य लोकानुभव पर निर्भर है ।[७] ये युक्तियाँ आधुनिक अंग्रेज दार्शनिक जार्ज एडवर्ड मूर की उन युक्तियों का स्मरण कराती है जिनको उन्होंने संशयवाद के विरोध मे और सामान्य लोकानुभव (common sense)के पक्ष मे दिया था । वे अपना दाँया हाथ उठाकर कहते है कि मै निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि यह मेरा दाँया हाथ है । इस निश्चय-ज्ञान के लक्षण पर मूर को ठीक ही संशय नही होता है । ऐसे ही भासर्वज्ञ कहते है कि शरीर को चेष्टाश्रय मानना शरीर का ऐसा लक्षण करना है जो अव्याप्त है, परन्तु यह शरीर का निश्चित ज्ञान करा देता है ।[८] अतः लक्षण निष्प्रयोजन या निरर्थक नही होता है । वह सदैव प्रसंगानुसार होता है ।

(१६) लक्षण के ऊपर नागार्जुन द्वारा की गई आपत्ति भी समीचीन नही है । उनका यह कहना द्व्यर्थक है कि 'लक्षण के पूर्व जो है वह अलक्षण है । 'अलक्षण' शब्द का एक अर्थ लक्षण रहित होना है और दूसरा अर्थ अज्ञात—लक्षण होना है । नागार्जुन इनदोनों अर्थो मे घपला करते है । हम वस्तुओं के लक्षण को यदि नही जानते है तो हमारे लिए वे अज्ञात—लक्षण है । परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि वे लक्षणरहित है । इसी प्रकार सलक्षण वस्तु का भी वे दो अर्थ करते हैं, लक्षणवान्, और ज्ञात-लक्षण होना । फिर उनका यह निष्कर्ष कि जो अलक्षण है वह आकाश-कुसुम की तरह है गलत है । बहुत सी वस्तुएँ हमारे लिए अज्ञात-लक्षण है, परन्तु वे अकाश-कुसुमवत् नही है । इसी प्रकार नागार्जुन का शून्य तत्त्व अलक्षण है,परन्तु वह आकाश-कुसुम नही है । पुनश्च सलक्षण और अलक्षण मे विरोध भी नही है, क्योकि दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न है । यदि अलक्षण का अर्थ अज्ञात-लक्षण और सलक्षण का अर्थ लक्षण-युक्त किया जाय तो कोई विषय हमारे लिए किसी समय सलक्षण होते हुए भी अलक्षण हो सकता है । अन्त मे नागार्जुन ने जो लक्ष्य-लक्षण-भाव में अन्योन्याश्रय दोष दिखलाया है वह वास्तव मे दोष न होकर लक्ष्य-लक्षण भाव का स्वभाव है । लक्ष्य-लक्षण-भाव लक्ष्य और लक्षण का सयोग या विभाजन नही है । यह एक मौलिक सबंध है जो विशेषण विशेष्य-भाव और संसर्गि-संसर्ग-भाव से भिन्न है ।[९] नागार्जुन ने जो आपत्ति की है वह लक्ष्य-लक्षण-भाव के स्वरूप की अर्थान्तर कल्पना(Ignoratio Elenchi) पर आधारित है । अतः वह सदोष है ।

(१७) जयराशि भट्ट ने लक्षण पर जो आपत्ति की है उसका निराकरण श्रीहर्ष के द्वारा की गई आपत्ति के निराकरण द्वारा सामान्यतः हो जाता है। यह ठीक है कि प्रमेय प्रमाण निबन्धन है और प्रमाण लक्षण-निबन्धन है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्रमाण द्वारा लक्षण का निश्चय नहीं किया जा सकता। भासर्वज्ञ कहते है कि लक्षण का निश्चय प्रमाण के द्वारा होता है—लक्षणस्यापि निश्चयसाध्यत्वेन प्रमाणत्वात्।[१०] फिर वे कहते है कि लक्षण परम्परा मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लक्षण का लक्षण समस्त लक्षण-वर्ग का व्यवच्छेदक होने के कारण स्वयं अपना भी व्यवच्छेदक होता है। जैसे सभी शब्द अनित्य है, यह वाक्य स्वयं अपनी भी अनित्यता का कथन करता है।[११] इसलिए लक्षण को लक्षणान्तर से जानने की आवश्यकता नहीं है। यदि लक्षण के ज्ञान को निश्चित करना है तो फिर उसका निश्चय प्रमाण के द्वारा होता है। अतः लक्षण में अनवस्था दोष नहीं है। लक्षण-वचन, सर्वत्र संदेह के विषयों के बारे में निश्चय का हेतु होता है। इसलिए लक्षण-वचन निष्प्रयोजन नहीं है।

(१८) अतः लक्षण की संभावना सिद्ध हो गयी है, क्योंकि उस पर लगायी जाने वाली आपत्तियों का निराकरण हो गया है। स्पष्ट है कि लक्षण की कल्पना में अर्थात् लक्ष्य—लक्षण-भाव की अवधारणा में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। किन्तु प्रश्न है कि क्या लक्षण प्रमाण का पर्यायवाची है या वह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से भिन्न कोई चौथा प्रमाण है? इस पर वाचस्पति मिश्र न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में कहते है कि लक्षण केवल व्यतिरेकी हेतु होता है, क्योंकि वह सजातीय और विजातीय विषयों से भिन्न करके लक्ष्य को व्यवस्थापित करता है।[१२] इसको निम्नलिखित न्यायप्रयोग (Syllogism) के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है :—

(१) लक्षण केवलव्यतिरेकी हेतु होता है।

(२) क्योंकि वह विशेष धर्म है।

(३) जो केवल व्यतिरेकी हेतु नहीं होता वह विशेष धर्म नहीं होता, जैसे, अभिधेयत्व।

(४) यह वैसा नहीं है, अर्थात् लक्षण अभिधेयत्व की तरह विशेष धर्म का अभाव नहीं है।

(५) इसलिए यह वैसा नहीं है अर्थात् लक्षण केवल व्यतिरेकी हेतु का अभाव नहीं है अर्थात् लक्षण केवल व्यतिरेकी हेतु है।[१३]

परन्तु भासर्वज्ञ लक्षण को केवल व्यतिरेकी हेतु नहीं मानते है। उनका कहना है कि लक्षण विशेष, अंक, चिह्न, आदि शब्द पर्यायवाची है। वे लक्षण को

प्रमाण का पर्याय नहीं मानते हैं। उनके मत से लक्षण प्रमेय-विशेषक होता है—लक्षण तु प्रमेयविशेषकमेव[१४] और इन्द्रियादि के सहयोग से प्रत्यक्ष आदि के द्वारा उसका कथन किया जाता है। वे कहते हैं—

"तच्चेन्द्रियादिसहकारित्वेन प्रत्यक्षादिव्यपदेशमपि लभते।' तात्पर्य यह है कि लक्षण प्रमाण का सहकारी है।

(१९) भासर्वज्ञ और वाचस्पति मिश्र में इस प्रकार लक्षण के स्वरूप को लेकर मतभेद है। आधुनिक शब्दावली में यदि कहा जाय तो वाचस्पति मिश्र का मत आकारिक तर्कशास्त्र (Formal Logic) के अनुसार है और भासर्वज्ञ का मत अनाकारिक तर्कशास्त्र (Informal Logic) या सामान्य भाषा के तर्कशास्त्र (Logic of Ordinary Language के अनुसार है। वाचस्पति मिश्र लक्षण-वचन को व्यतिरेकी-हेतु वचन मानते है। इससे वे लक्षण का प्रयोग केवल विशेष धर्म या व्यवच्छेदक के अर्थ मे करते हैं। पुनश्च भासर्वज्ञ लक्षणका प्रयोग विशेष के अतिरिक्त चिह्न, अंक आदि के अर्थ में भी करते है जिसका व्यवहार सामान्य जन करते हैं।[१५] कहना नहीं होगा कि भासर्वज्ञ का मत वाचस्पति मिश्र के मत की अपेक्षा अधिक व्यापक है। किन्तु लक्षण के बारे में दोनों ही मत समीचीन है।

(२०) अब लक्षण के लक्षण का अर्थात् लक्षण की परिभाषा का विचार करना है। इस प्रसंग मे लक्षण की निम्नलिखित परिभाषाएँ न्याय-दर्शन मे मिलती है—

(१) वात्स्यायन ने न्याय-भाष्य में कहा कि उद्देश्य के उस धर्म को लक्षण कहते हैं जो उसको अन्य से भिन्न करता है—उद्दिष्टः स्यात्तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मः।[१६]

(२) अन्नंभट्ट ने तर्कदीपिका में कहा है कि लक्ष्यता-अवच्छेदक समनियतत्व लक्षण का लक्षण है अर्थात् लक्षण की परिभाषा यह है कि लक्षण लक्ष्यता-अवच्छेदक के समान होता है।

(३) केशव मिश्र ने तर्कभाषा में कहा है कि दूषण-त्रय-रहित धर्म लक्षण है। दूषण-त्रय का तात्पर्य अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और और असंभव दोष हैं। इन दोषों से रहित धर्म या गुण (Quality) लक्षण है।

(४) जैमिनीय न्यायमाला में माधवाचार्य ने कहा कि सजातीय और विजातीय का व्यावर्तक तथा लक्ष्य में विद्यमान जो लोक-प्रसिद्ध आकार है, वही लक्षण है। यहाँ आकार को लक्षण कहा गया है। और आकार का अर्थ स्वरूप है।

(५) व्यवहारोपयोगी नाम लक्षण है।

(६) शाब्दिक या वैयाकरण मानते हैं कि शब्द की साधुता का प्रतिपादन करने वाला प्रमाण लक्षण है।[१७]

लक्षण की उपर्युक्त सभी परिभाषाओं मे जो प्रश्न निहित है वह यह है कि लक्षण सत् है या ज्ञान या वाक्य ? चौथी परिभाषा में माना गया है कि लक्षण किसी वस्तु का स्वरूप होता है। पहली और तीसरी परिभाषा मे माना गया है कि लक्षण किसी वस्तु का धर्म या गुण होता है। पाँचवी परिभाषा में माना गया है कि व्यक्तिवाचक नाम (सज्ञा शब्द) किसी वस्तु का लक्षण होता है। छठी परिभाषा मे माना गया है कि लक्षण ज्ञान है जो अपने लक्ष्य का प्रतिपादक होता है। अन्त मे तीसरी परिभाषा में भी माना गया है कि लक्षण किसी वस्तु के विशेष गुण का अभिव्यंजक कथन है। वास्तव में लक्षण शब्द का दो अर्थ होता है। एक, विशेष धर्म या चिह्न और दूसरा उस विशेष धर्म या गुण या चिह्न का कथन। दूसरे अर्थ मे ही लक्षण को परिभाषा कहा जाता है और पहले अर्थ मे लक्षण केवल गुण नामक पदार्थ के अन्तर्गत है। तर्कशास्त्र मे परिभाषा के अर्थ मे ही लक्षण को लिया जाता है। अत: लक्षण को हम परिभाषा ही कहेंगे और परिभाषा को वचन, निर्वचन, निरुक्ति या वाक्य का सजातीय मानेंगे। इस अर्थ मे परिभाषा को लक्षण-वचन, लक्षण वाक्य या लक्षण-सूत्र कहा जाता है। उसे सूत्र इसलिए कहा जाता है कि वह कथन यथासम्भव सक्षिप्त और सारवान् होता है।

पुनश्च इस दृष्टि से उपर्युक्त परिभाषाओं मे से न्याय-दर्शन में केवल दूसरी परिभाषा को ही मान्यता दी जाती है।

(२१) न्याय-दर्शन की भाँति विश्लेषणात्मक दर्शनमे भी परिभाषाकी समावना का विचार किया गया है। कुछ लोग कहते है कि सभी परिभाषाएँ अनावश्यक हैं, क्योकि उनके बिना भी भाषा-व्यवहार सम्भव है। इस प्रसग में कोहेन और नैगल ने मोलियर (Moliere) के नाटक "ले बूर्जवा जेण्टिल होम' के पात्र जोर्डेन (Jourdain) का कथन उद्धृत किया है। जोर्डेन गद्य और पद्य की परिभाषाएँ नहीं जानता था। एक अध्यापक ने जब उसको बताया कि जो भी बात कही जाती है वह गद्य या पद्य मे होती है तब उसे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वह जो कुछ बोल रहा था वह सब गद्य है।[१८] बिना गद्य की परिभाषा जाने वह भाषा का व्यवहार कर रहा था। उसके इस व्यवहार मे गद्य की परिभाषा की कोई भूमिका नहीं थी। इसी प्रकार आधुनिक तर्कशास्त्रियो ने भी सिद्ध किया है कि परिभाषाएँ तर्कशास्त्र के निकाय के बाहर हैं और तर्कशास्त्र के सभी प्रमेयों को अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है। उनके आरम्भ मे जिन परिभाषाओं को माना जाता है उनको

भी बाद मे अनुमान-गम्य बनाया जा सकता है। इसी बात को नव्य-न्याय के दार्शनिक गंगेश उपाध्याय ने भी कहा है कि प्रत्यक्ष के विषयों को भी तर्करसिक गण अनुमान से सिद्ध करते है।[19] "प्रत्यक्ष परिकल्पितम् अपि अर्थम् अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः।" यदि हम गंगेश के वाक्य मे प्रत्यक्ष के स्थान पर परिभाषा रख दे तो उनके वाक्य का अर्थ परिभाषा के संदर्भ मे स्पष्ट हो जाता है। यह लाल है, इसको गंगेश उपाध्याय प्रत्यक्ष कहते है। आधुनिक तर्कशास्त्री इसको संकेतात्मक परिभाषा मानते है। अत गंगेश का उपर्युक्त कथन परिभाषा पर भी लागू होता है।

परन्तु ऐसे तर्कशास्त्री आकारवादी हैं और वे परिभाषा के केवल कुछ प्रकार विशेष का निराकरण करते है। इससे परिभाषा मात्र का निराकरण नहीं होता है। निश्चित अर्थ मे किसी पद का प्रयोग करना भी परिभाषा है और इस अर्थ मे कोई भी आकारवादी तर्कशास्त्री परिभाषा का खण्डन नहीं कर सकता है। जॉन हास्पर्स ने इसीलिए परिभाषा का प्रयोग दो अर्थों में किया है। पहला, किसी पद को अन्य पद या पदों द्वारा परिवर्तन करना। यह समरूप या समानार्थक पद द्वारा परिभाषा है और परिभाषा का अत्यन्त सकुचित अर्थ है। दूसरे, परिभाषा का एक अधिक व्यापक अर्थ है जिसके अनुसार परिभाषा किसी शब्द के अर्थ को प्रदर्शित करने की एक विधि है। ऐसी विधि अनेक प्रकार की हो सकती है। प्रथमतः, ऐसी विधि किसी नियम का प्रकथन करती है। दूसरे, किसी शब्द का निर्देश बताना है। तीसरे, किसी शब्द की संकेतात्मक परिभाषा देना है।[20] अतः परिभाषा अनावश्यक नहीं है और वह चिन्तन तथा भाषा के लिए उपयोगी तथा आवश्यक दोनो है।

(२२) लक्षण या परिभाषा संकेत है। केवल सकेत अर्थ-बोध उत्पन्न करने वाला शब्द-व्यापार है। यह दो प्रकार का होता है, आजानिक और आधुनिक। आजानिक संकेत को शब्द-शक्ति कहते हैं जो किसी पद मे नित्य रहती है। आधुनिक संकेत कादाचित्क होता है। एक शास्त्रकार अपनी इच्छा से जब किसी शब्द का कोई नया या आधुनिक अर्थ करता है तो उसे परिभाषा कहा जाता है। उदाहरण के लिए, वृद्धि का नया अर्थ जो पाणिनि ने किया है वह—"आ," "ए" और "औ" है। उनका सूत्र है वृद्धिरादैच्। यह वृद्धि की परिभाषा करता है। इस प्रकार परिभाषा शक्ति से भिन्न होती है। परन्तु आजकल ऐसी परिभाषा को ऐच्छिक परिभाषा या तकनीकी परिभाषा कहा जाता है, क्योंकि ऐसी परिभाषाएं प्रत्येक शास्त्र मे की जाती है। इन परिभाषाओं के अतिरिक्त भी एक प्रकार की परिभाषा होती है जिसे सकेतवाचक परिभाषा (Ostensive Definition) कहा जाता है। इस अर्थ मे घट, पट, शुक्ल, क्रिया आदि के अर्थ में जिन पदों का व्यवहार होता है उन्हे उन-उन विषयों की संकेतवाचक परिभाषा कहा जाता है।

इस अर्थ में शक्ति मात्र परिभाषा है। नव्य-न्याय में भी उपर्युक्त आधुनिक परिभाषा को अर्थात् पाणिनि आदि शास्त्रकारों द्वारा की गई ऐच्छिक परिभाषा को भी शक्ति कहा गया है। इस प्रकार परिभाषा या लक्षण वाचकत्व या कथन है। परन्तु प्रश्न है कि परिभाषा और अन्य कथन या अभिधान में क्या अन्तर है ?

(२३) यहाँ प्रो० जान विज़डम कहते हैं कि परिभाषा एक प्रकार का कथन या अभिधान (Assertion) है जो अभिकथन (Meta Statement) है।[२१] उदाहरण के लिए, गाय दूध देती है, गाय सफेद है, गाय घास खाती है, यह गाय मेरी है, इत्यादि वाक्य गाय का वर्णन करते हैं। ये कथन हैं। फिर जब गाय की परिभाषा की जाती है कि गाय सास्नादिमान् पशु है, तो इस परिभाषावाक्य का स्तर उपर्युक्त वर्णनात्मक वाक्यों से भिन्न है। परिभाषा-वाक्य को इस अर्थ में अभिकथन कहा जाता है और सामान्य वर्णनात्मक वाक्य को प्रकथन कहा जाता है। अभिकथन प्रकथन का आधारभूत हेतु है। प्रकथन अभिकथन पर आश्रित है। यही परिभाषा और प्रकथन का सम्बन्ध है। यदि मध्य-युग की दार्शनिक पदावली का प्रयोग किया जाय तो हम कह सकते हैं कि अभिकथन प्रकथन का ज्ञान-हेतु (Ratio Cognoscendi) है और प्रकथन अभिकथन का अस्तित्व-हेतु (Ratio Essendi) है।

(२४) पुनश्च प्रोफेसर जॉन विज़डम के अनुसार परिभाषा-वाक्य, अनुवाद, निश्चित वर्णन या विश्लेषण हो सकते हैं। टॉमी एक कुत्ता है, इस वाक्य में टॉमी का लक्षण किया गया है। यह लक्षण निम्नलिखित वाक्य का अनुवाद मात्र है—

"कोई चीज "क" है जिसे टॉमी कहते हैं और "क" एक कुत्ता है।"

फिर कुछ लक्षण विश्लेषण है। उदाहरण के लिए, य र का भाई है, इसको यदि लक्षण-वाक्य माना जाय तो इसका विश्लेषण निम्नलिखित होगा :—

"य" पुरुष है और "र" उसका भाई या उसकी बहन है और "य" तथा "र" दोनों की माँ "क" है और दोनों के पिता "ख" हैं।

अन्त में कुछ लक्षण केवल निश्चित वर्णन है। ऐसे लक्षणों को उपलक्षण कहा जाता है, जैसे देवदत्त का वही घर है जिस पर प्रातःकाल कौवे बैठते हैं। इस लक्षण के द्वारा अन्य घरों से देवदत्त के घर को भिन्न किया जाता है। परन्तु यह लक्षण देवदत्त के घर का मात्र निश्चित वर्णन करता है। यह उसके घर का कोई अनिवार्य लक्षण नहीं है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कथन के प्रकारों का वर्णन यों किया जा सकता है—
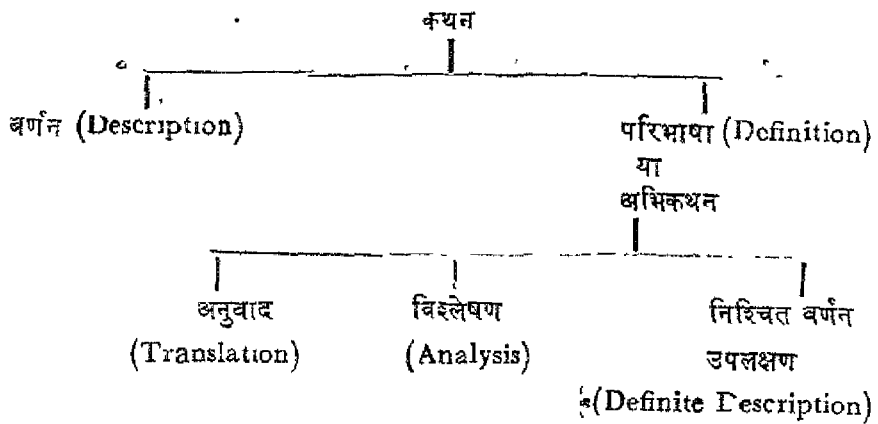
अर्थात् कथन के दो प्रकार है—वर्णन और परिभाषा। और परिभाषा के तीन प्रकार हैं—अनुवाद, विश्लेषण और उपलक्षण।

संदर्भ और टिप्पणी

१ **खंडनखण्डखाद्य**, श्रीहर्ष, हिन्दी अनुवाद सहित, योगीन्द्रानन्द वाराणसी, १९७१, पृ० १२६

२ तस्मात् न विद्यते लक्ष्यं लक्षण नैव विद्यते।
मध्यमकशास्त्र, नागार्जुन, स० पी० एल० वैद्य, मिथिला, १९६०, ५।५

३ वही ५।३

४ वही ५/३

५ सलक्षणनिबन्धनमानव्यवस्थानाम् माननिबन्धना च मेयस्थितिः तद्भावे तयोः सद्व्यवहार विषयत्वं कथ............।
तत्त्वोपप्लव सिंह, जयराशि भट्ट, बडौदा, पृ० १।

६ कथं तत् पद प्रतिपादनाय अलम्? न च नित्यस्य विज्ञानाद्यर्थक्रिया-करणसामर्थ्यमस्ति एवं लक्ष्यभूतं पद न विद्यते तदभावान्नि विषयं परमार्थं (सर्व) लक्षणमिति। अपि च, यानि लक्षणपराणि सूत्राणि तेषां लक्षण विद्यते न वा? यदि विद्यते, तत्रापि अन्यद् अत्रापि अन्यद् इत्यनिष्ठायां च न किंचित् पदं ज्ञातं स्यात् अथ न विद्यते, किमेवं तर्हि तेषां साधुत्व न विद्यते? वही पृ० १२३-१२४

७ **न्यायभूषण**, भासर्वज्ञ, सं० और हिन्दी अनुवादक योगीन्द्रानन्द, वाराणसी, १९६८, पृ० ६-८

८ वही पृ० ८

वेदान्त के अनुसार वाक्य के तीन प्रकार है :—(१) विशेषण-विशेष्य भाव (जैसे घड़ा नीला है) (२) संसर्गी संसर्ग भाव (जैसे भूतल पर घड़ा है) और लक्ष्य-लक्षण भाव जैसे (गंगा पर कुटी है) अथवा कौन्तेय राधेय है। तीसरे प्रकार का वाक्य तादात्म्य-वाक्य है। इस वाक्य के उद्देश्य और विधेय एक ही वस्तु का निर्देश या संकेत (Reference) करते हैं। इसलिए ये पद लक्षण कहे जाते हैं। लक्ष्य-लक्षण भाव मे अन्योन्याश्रय आदि दोष नही होते है क्योंकि यहाँ लक्ष्य और लक्षण मे तादात्म्य रहता है।

न्यायभूषण, पृ० ९।

न चेयं लक्षणपरम्पराऽभ्युपगम्यते, कस्मात् ? लक्षणलक्षणस्य, सकल वर्ग व्यवच्छेदकत्वेन स्वात्मनोऽपि व्यवच्छेदकत्वात्। यथा अनित्य सर्वं शब्द इत्येतद् वाक्यं स्वात्मानोऽप्यनित्यतामभिधत्ते। वही पृ० ९।

लक्षण नाम व्यतिरेकि हेतुवचनम् तद्धि समानासमान जातीयेभ्यो विभिद्य लक्ष्य व्यवस्थापयति। न्यायतात्पर्य टीका, वाचस्पति मिश्र, पृ० ९८।

दे० न्यायकोश, भीमाचार्य झलकीकर पूना १९२८ पृ० ६९६।

न्यायभूषण, पृ० ९।

वही पृ० ९।

वात्स्यायन न्यायभाष्य, हिन्दी अनुवाद, द्वारिकादास, वाराणसी १९६६, १,१,३।

इन सभी परिभाषाओं के लिए देखिये न्यायकोश पृ० ६९६

An Introduction to Logic and Scientific Method, M R Cohen and E Nagel, Indian edition, New Delhi, 1968.P 226-227

तत्त्वचिन्तामणि, गंगेश उपाध्याय, पृ० ४२४।

An Introduction to Philosophical Analysis, John Hospers, Indian edition, New Delhi 1.71 P 22

A definition is an assertion of a certain sort It may mean translation, description or analysis. Quoted by Miss S. H Divatia from the Lecture Notes of John Wisdom in her unpublished paper *'Interpretation and Analysis*.
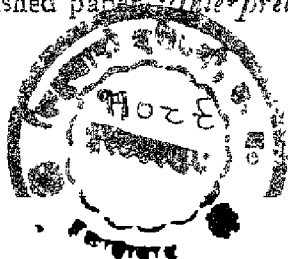
लक्षण के प्रयोजन

(२५) प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते, यह लोकोक्ति है जो सत्य है। मनुष्य का प्रत्येक व्यापार सप्रयोजन है। उसका वाग्व्यवहार भी इसीलिए सप्रयोजन है। उसके लिए प्रत्येक वस्तु का कोई प्रयोजन होता है। अतः परिभाषाओं का भी प्रयोजन है। लक्षण या परिभाषा करना एक बौद्धिक व्यापार है। भारतीय दार्शनिकों ने भी माना है कि आक्षेप (आपत्ति), अपवाद (आपत्ति का निराकरण), और लक्षण (परिभाषा) करने के पूर्व इनका प्रयोजन बताना चाहिए, क्योंकि ये स्वयं साधन है न कि साध्य। अत. इनके साध्य या प्रयोजन को जानने के बाद ही इनको जानना चाहिए शबर कहते हैं—

आक्षेपे चापवादे च प्राप्त्यां लक्षणकर्मणि।
प्रयोजनं न वक्तव्यं यत्र कृत्वा प्रवर्तते[1]॥

(२६) अब प्रश्न है: लक्षण का क्या प्रयोजन है? लक्षण मूलत. तत्त्व-बोध का साधन है। अतः लक्षण का प्रथम प्रयोजन तत्त्व-बोध है। मनीषी लोग लक्षण के द्वारा ही उससे लक्षित होने वाले सभी पदार्थों को जान जाते है। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि मृत्पिंड के लक्षण से मृत्पिण्ड से बनी सभी मृण्मय वस्तुएँ जानी जाती हैं।[2] इस प्रकार जैसे आगमन से सामान्य ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वैसे ही लक्षण से तत्त्वबोध होता है। कहा गया है कि एक-एक पदार्थ को अलग-अलग जानते हुए कोई भी मनुष्य सभी वस्तुओं को जान नहीं सकता है। किन्तु विद्वान् लोग लक्षण के द्वारा एकसाथ ही या एकबार ही सभी वस्तुओं को जान सकते हैं।

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तयान्ति पृथक्त्वतः
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥[3]

इस प्रयोजन के अनुसार लक्षण सूचनात्मक होता है। उसका प्रधान कार्य (Role, function) किसी अर्थ के बारे में सूचना देना है। परन्तु उपर्युक्त कथन से माना गया है कि लक्षण को जानने का साधन प्रातिभज्ञान है। किन्तु लक्षण का ज्ञान निरीक्षण और विमर्श से भी हो सकता है। अतः यह कोई आवश्यक नहीं है कि लक्षण का सूचनात्मक प्रयोजन मानने के लिए उसे प्रातिभज्ञान से लभ्य माना

जाय। यह अलग प्रश्न है कि लक्षण का ज्ञान किस साधन से होता है परन्तु यह प्रश्न मनोविज्ञान का है, तर्कशास्त्र का नही। अत: इसकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है

(२७) लक्षण का दूसरा प्रयोजन पद-व्यवहार है, अर्थात् शब्द का प्रयोग करना है। न्याय-दर्शन और व्याकरण-शास्त्र मे इसको ही लक्षण का मुख्य प्रयोजन माना गया है। लक्षण-पद नामकरण का काम करता है और सज्ञा की तरह प्रयोग मे लाया जाता है। आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन में इसी प्रयोजन को दूसरे ढग से बताते हुए प्रो० इर्विंग यम० कोपी ने कहा है कि परिभाषा का प्रयोजन हमारी शब्दावली की वृद्धि करना है। उनका कथन है—

"किसी पद के अर्थ की व्याख्या करना उसकी परिभाषा देना है। परिभाषा देना भाषा के उचित प्रयोग और ज्ञान के लक्षण की प्राथमिक पद्धति नही है। यह प्राथमिक तरीके द्वारा उत्पन्न रिक्तता को भरने के लिए एक सम्पूरक साधन है। वार्तालाप मे या पढ़ते समय ऐसे अनेक अपरिचित शब्द आते है जिनके अर्थ उनके सन्दर्भ से स्पष्ट नहीं होते। जिस वस्तु का कथन हो रहा है उसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम शब्दो का अर्थ समझ ले। यहीं पर परिभाषा की आवश्यकता होती है। उसका एक उद्देश्य है जिस व्यक्ति के लिए परिभाषा दी जा रही है उसके शब्द-भण्डार में वृद्धि करना।"[४]

किन्तु प्रो० कोपी का यह कथन वस्तु-स्थिति से दूर है। परिभाषा और उद्देश मे अन्तर है। शब्द-भण्डर में वृद्धि करना उद्देश कहा जाता है। परिभाषा द्वारा उस उद्देश का प्रयोग बताया जाता है। परिभाषा बताती है कि किसी शब्द या प्रतीक का प्रयोग या व्यवहार कहाँ किया जाना चाहिए। इस प्रकार वास्तव में परिभाषा का प्रयोजन शब्द-भण्डार में अभिवृद्धि करना नही अपितु शब्दों के प्रयोग का व्यवहार बताना है। प्रोफेसर कोपी की अपेक्षा न्याय-दर्शन में परिभाषा के इस प्रयोजन को अधिक स्पष्ट किया गया है। परिभाषा या लक्षण किसी विषय के स्पष्ट ज्ञान का द्वितीय सोपान है और उसका प्रथम सोपान उस विषय का बिना परिभाषा के कुछ परिचय है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए चार्ल्स पर्स कहते है कि "पुस्तकें ज्ञान की स्पष्टता प्रदान करने के लिए सबसे पहले एक संप्रत्यय का परिचय देती हैं और फिर दूसरे स्तर पर वे उसको परिभाषित करती है।"[५] उन्होने यहाँ स्पष्ट रूप से न्याय-दर्शन की तरह उद्देश और लक्षण का अन्तर स्पष्ट किया है। फिर भी जब हम नये विषयो के लिए नये शब्दों या प्रतीकों को गढते हैं तो हम शब्द-भण्डार में वृद्धि करते है। ज्यो-ज्यो ज्ञान का विकास होता है त्यों-त्यो शब्दो की आवश्यकता बढ़ती जाती है। इसीलिए प्रोफसर कोपी ने कहा है कि परिभाषा का एक कार्य शब्द-भण्डार मे वृद्धि करना है। परन्तु इस कार्य का अगर

बहुत अधिक प्रयोग होता है तो भाषा दुरूह हो जाती है और उसमें पारिभाषिक शब्दों का बाहुल्य हो जाता है जो सर्वसाधारण के लिए सुबोध नहीं रहता है। इसलिए कहा जाता है कि यथासम्भव कम-से-कम पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् यथासम्भव कम-से-कम परिभाषाओं का प्रयोग करना चाहिए।

(२८) न्याय-दर्शन के अनुसार लक्षण का तीसरा प्रयोजन व्यावृत्ति है। व्यावृत्ति का अर्थ इतर-व्यावृत्ति है, अर्थात् किसी पद के अर्थ को जब हम अन्य अर्थों से पृथक् करते हैं तो इस क्रिया को व्यावृत्ति कहा जाता है। इस प्रसंग में प्रो० संगमलाल पाण्डेय लिखते हैं, "व्यावृत्ति लक्ष्य के वर्णन के बाद उसके असाधारण धर्म का कथन है। जो व्यावृत्त करता है वह व्यावर्त्तक या व्यवच्छेदक कहा जाता है। व्यावर्त्तक लक्ष्य को उसके सजातीय तथा विजातीय से भिन्न करता है। उसे लोक-प्रसिद्ध होना चाहिए जिससे सभी लोग उसको जान लेने पर लक्ष्य को समझ जायें। इसीलिए कहा गया है कि लक्षण वह लोक-प्रसिद्ध आकार है जो लक्ष्य में रहता है और लक्ष्य को उसके सजातीयों तथा विजातीयों से भिन्न करता है।"[६]

(२९) लक्षण का चौथा प्रयोजन संदेह या संदिग्धार्थता का निराकरण करना है। न्याय-दर्शन में माना जाता है कि जहाँ सन्देह होता है वहीं निश्चय प्राप्त करने के लिए लक्षण किया जाता है। इस प्रसंग में भासर्वज्ञ कहते है—तदेव सर्वत्र संदेह—विषये निश्चयहेतुत्वात् न लक्षणवचनं निष्प्रयोजनमिति।[७] इसी को और स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि जहाँ संदेह होता है वहाँ लक्षण करके निश्चय प्राप्त किया जाता है।

यत्रैव वस्तुनि सन्देहस्तत्रैव लक्षणो लम्भपूर्वको निश्चय इत्ययं नियमोऽभ्युपगम्यते।[८]

इस प्रकार जो किसी पद के लक्षण से अनभिज्ञ होते है वे ही उसके बारे में संदेह करते है, परन्तु जो लक्षण को जानते है, वे उस पद पर संदेह नहीं करते हैं। संदेह का निराकरण करना लक्षण का प्रयोजन है।

विश्लेषणात्मक दर्शन में लक्षण के इस प्रयोजन पर विशेष बल दिया जाता है। प्रायः एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु इससे उनके अर्थ को समझने में सामान्यतः कोई गड़बड़ी नहीं होती। परन्तु कभी-कभी किसी शब्द की अनेकार्थकता के कारण ऐसी गड़बड़ी हो जाती है जिसको दूर करने के लिए परिभाषा की आवश्यकता होती है। ऐसी एक गड़बड़ी का उदाहरण विलियम जेम्स ने दिया है जिसमें "चारों ओर" पदावली के दो अर्थ होने के कारण दो दार्शनिकों में गर्म बहस हो रही थी। परिस्थिति यह थी— एक आदमी और एक गिलहरी एक पेड़ के चारों

ओर दौड रहे थे। आदमी गिलहरी को पकड़ना चाहता था, परन्तु गिलहरी और आदमी के बीच में एक पेड़ का मोटा तना हमेशा था जिसके कारण आदमी गिलहरी को पकड़ने को कौन कहे देख भी नहीं पाता था। फिर भी गिलहरी पेड़ के चारों ओर घूम रही थी। प्रश्न है कि आदमी गिलहरी के चारों ओर घूम रहा है कि नहीं। इस प्रश्न का उत्तर है कि आदमी गिलहरी के चारो ओर दौड़ रहा है क्योंकि गिलहरी पेड़ के चारों ओर दौड रही है और आदमी भी पेड के चारों ओर दौड़ रहा है। परन्तु इस प्रश्न का दूसरा उत्तर है कि आदमी गिलहरी के चारों ओर नहीं दौड रहा है क्योंकि वह गिलहरी के सामने, फिर बगल, फिर पूंछ के सामने, फिर बगल और अन्त में उसके मुँह के सामने नहीं खड़ा होता है।

विलियम जेम्स ने इस विवाद का समाधान "चारों ओर" की परिभाषा निश्चित करके किया है। यहाँ "चारों ओर" पद की दो अलग-अलग परिभाषएँ वादी और प्रतिवादी द्वारा की गई है। यदि वादी की परिभाषा मान ली जाय तो उसका कथन सही है और यदि प्रतिवादी की परिभाषा मान ली जाय तो प्रतिवादी का कथन सही है। विलियम जेम्स के इस समाधान से वादी और प्रतिवादी दोनों प्रसन्न हो गये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि "चारो ओर" पद की जो दो परिभाषाएँ, (१ पेड़ के चारों ओर और (२) गिलहरी के शरीर के चारो ओर, विवाद के मूल में है उनकी जानकारी शब्दकोश या व्याकरण से नहीं हो सकती। उनकी जानकारी केवल तर्कशास्त्र से हो सकती है जो परिस्थिति का विश्लेषण करके परिभाषा का निश्चय करता है।[९]

परिभाषा का यह कार्य चिकित्सात्मक (Therapeutic) है। वह विचिकित्सा को दूर करती है और निश्चित ज्ञान प्रदान करती है। न्याय-दर्शन में छल को एक पदार्थ माना गया है। वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल—ये छल के तीन भेद हैं। ये सभी नानार्थक या श्लिष्ट पदों के कारण उत्पन्न होते हैं। इनको दूर करने के लिए नानार्थक पद को स्पष्ट परिभाषा अपेक्षित है। उदाहरण के लिए देवदत्त के पास नवकम्बल है—इस वाक्य में नव शब्द श्लिष्ट है। इसका अर्थ नौ और नया दोनो है। यहाँ अभीष्ट अर्थ नया लिख देने मे श्लिष्टता दूर हो जाती है। इस प्रकार भाषा प्रायः छलनात्मक होती है। उसकी इस प्रवृत्ति को दूर करना और स्पष्टता लाना परिभाषा का प्रकार्य है।

(३०) लक्षण का पाँचवाँ प्रयोजन है अर्थ स्पष्ट करना। किसी पद के अर्थ को स्पष्ट करने का तात्पर्य है परिचित पदों की अस्पष्टता कम करना। पदों की अस्पष्टता ऐसी परिभाषा देकर कम की जाती है जो किसी विशेष-स्थिति में इसके प्रयोज्यत्व का निर्धारण करे। कभी-कभी अस्पष्टता को संदिग्धार्थता के साथ मिला

दिया जाता है। यद्यपि एक ही शब्द अस्पष्ट और संदिग्ध दोनो हो सकता है तथापि दोनों दो विभिन्न गुण हैं। कोई पद किसी दिये हुए संदर्भ मे संदिग्ध तब होता है जब उसके अलग-अलग अर्थ होते है और वह संदर्भ यह नही बताता कि वहाँ पर कौन अर्थ उद्दिष्ट है। इसके विपरीत कोई पद अस्पष्ट तब होता है जब उससे ऐसे सदृश विषय जाने जाते हो जिनसे यह निश्चय न हो सके कि उनमें कौन-सा विषय इष्ट है। उदाहरणार्थ मान लीजिए हमें उस नियम की व्यवस्था करनी है जिसके अनुसार आर्थिक सहायता केवल प्रजातान्त्रिक सरकार के देशों को ही देना चाहिए। यहाँ यह निश्चय करने मे अस्पष्टता होती है कि कौन देश प्रजातान्त्रिक हैं क्योंकि बहुत से ऐसे देश हैं जहाँ सैनिक शासनतन्त्र है, परन्तु वे भी अपने को प्रजातान्त्रिक कहते है।

ऐसे सदृश विषयों के साथ होने वाली अनिर्णय की अवस्था का समाधान अस्पष्ट पद की परिभाषा देकर किया जा सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में परिभाषा स्पष्ट कर देगी कि "प्रजातान्त्रिक" का क्या स्पष्ट अर्थ है। इस प्रकार परिभाषा का उद्देश्य ऐसे परिचित पदो की अस्पष्टता कम करना है, जो पूर्व चर्चित उद्देश्यों से भिन्न हैं। वास्तव मे यह प्रयोजन शब्द-व्यवहार के अन्तर्गत आता है। अतः इसको द्वितीय प्रयोजन से भिन्न करने की आवश्यकता है। शब्द--व्यवहार मे कभी-कभी ऐसी परिभाषाएं प्रयुक्त होती है जो अनेकार्थक हो जाती है और इस कारण उनसे अस्पष्टता उत्पन्न होती है। ऐसी परिस्थिति में अस्पष्टता को दूर करना भी परिभाषा का एक प्रयोजन मान लिया जाता है और ऐसी परिभाषा दी जाती है जो अस्पष्टता न उत्पन्न करे। अतः पाँचवें प्रयोजन को दूसरे प्रयोजन से भिन्न किया जा सकता है।

(३१) लक्षण का छठाँ प्रयोजन है पदो की सैद्धान्तिक व्याख्या करना। किसी पद की परिभाषा करने का एक प्रयोजन उसके वर्ण्य पदार्थो का वैज्ञानिक ढंग से अथवा सैद्धान्तिक ढंग से प्रत्यय करना है। उदाहरण के लिये अम्ल (Acid) की परिभाषा को लिया जा सकता है। अम्ल का अर्थ है उद्जन को मूल घटक के रूप में रखने वाला कोई पदार्थ। अथवा कारण की परिभाषा को लिया जा सकता है जिसके अनुसार वह नियतपूर्ववर्ती विषय कारण है जो अन्यथासिद्ध न हो। अम्ल या कारण की इस परिभाषा से वैज्ञानिक अनुसन्धान मे सहायता मिलती है।

(३२) लक्षण का सातवाँ प्रयोजन मनोभावों को प्रभावित करना है। उदाहरण के लिये जब कोई ईमानदारी की परिभाषा देते हुए कहता है कि ईमानदारी सदैव सत्य बोलना है तो वह किसी ईमानदार आदमी की प्रशंसा कर रहा है और ईमानदारी की कोई सैद्धान्तिक परिभाषा नहीं दे रहा है। भारतीय दर्शन में

इसी दृष्टि से मोक्ष की परिभाषाएं की गई। प्रत्येक मुनि ने अपने मत की ओर अपने शिष्यों को ले जाने के लिये अर्थात् उनके मनोभावों को प्रभावित करने के लिए मोक्ष की परिभाषा दी है। वेद के ऐसे कथनों को फलश्रुति कहा जाता है। उनका यथार्थतः कुछ अर्थ नहीं है। वे केवल प्रयोजक कथन हैं या अर्थवाद हैं।

(३३) परिभाषा के उपर्युक्त प्रयोजन मुख्यतः इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि परिभाषा क्यों की जाती है अथवा उसकी आवश्यकता क्यों है? वे उन कार्यों (Functions, Roles) को बताते हैं जिन्हें परिभाषा संपन्न करती है। इन प्रयोजनों का उपयोग कभी-कभी परिभाषाओं के प्रकार बताने में भी किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रो० कोपी ने परिभाषा के पाँच प्रयोजन बताये और फिर उनके अनुसार परिभाषा के पाँच प्रकार भी बताये।[10] किन्तु प्रयोजनों और प्रकारों में वे एक-एक का सम्बन्ध नहीं मानते हैं अर्थात् किसी विशेष प्रकार की परिभाषा के एक से अधिक प्रयोजन हो सकते हैं और परिभाषा के कई प्रकारों का केवल एक ही प्रयोजन हो सकता है। प्रो० कोपी स्वयं कहते हैं कि जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा में पाँचों प्रयोजन पाये जाते हैं।[11]

(३४) परिभाषा के प्रयोजन प्रकारान्तर से परिभाषा के कार्य या प्रकार्य कहे जाते हैं। भाषा में जो कार्य परिभाषा सम्पादित करती है वह परिभाषा का प्रकार्य (Role) है। संक्षेप में उसका प्रकार्य निम्नलिखित है—

(१) किसी अर्थ का नामकरण करना। इसे परिभाषा का प्रतीकात्मक प्रकार्य (Notational Role) कहा जाता है।

(२) किसी अर्थ की व्याख्या करना (Explanatory Role)।

(३) किसी अर्थ का विश्लेषण करना (Analytic Role)।

(४) किसी अर्थ की सूचना देना (Informative Role)।

(५) पदों की द्वयर्थकता और अनेकार्थकता को दूर करना (Removing Ambiguity)।

(६) संशय दूर करना (Removing uncertainty)।

(७) शब्दों के प्रयोग के नियम बताना (Rule Making)।

(८) संप्रत्ययों का परिष्कार करना (Improvement of Concepts)।

इनमें से ३, ७ और ८ का विवेचन इस अध्याय में नहीं किया गया है। अतः यह कार्य अगले अध्याय में किया जायेगा। अन्य प्रकार्यों का विवेचन ऊपर परिभाषा के प्रयोजन के निरूपण में सम्पन्न हो गया है।

संदर्भ और टिप्पणी

१ अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ, महादेवानन्द सरस्वती, कलकत्ता, १९०१, पृ० १६ ।

२ यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वम् मृण्मयं विज्ञात स्यात् ।
छान्दोग्य उपनिषद्, ६,१,४ ।

३ न्यायकोश, पृ० ६९७ ।

४ तर्कशास्त्र का परिचय, इरविंग एम० कोपी, हिन्दी अनुवाद, प्रो० संगम लाल पाण्डेय और गोरखनाथ मिश्र, द्वितीय संस्करण, १९७२, पृ० ८४ ।

५ Introduction to Logic, Irving M Copi, 6th edition, 1982, p. 135 ।

६ भारतीय तर्कशास्त्र का परिचय, प्रो० सगमलाल पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद १९६९, पृ० ४३।४४ ।

७ न्यायभूषण, पृ० ९ ।

८ वही पृ० ७ ।

९ इरविंग एम० कोपी के उपर्युक्त ग्रंथ मे उद्धृत पृ० ८५ ।

१० वही पृ० १३८-१४५, १४६, १५४ ।

११ Connotative definitions, especially definitions by genus and differentiam, can serve any of the purposes discussed in section 4. 1 and can be of the types enumerated in section 4.3 Ibid., p. 164 ।

परिभाषा और परिष्कार

(३५) आजकल प्रायः माना जाता है कि भाषा-विश्लेषण भारतवर्ष मे न्याय-दर्शन तथा व्याकरण-दर्शन से आरम्भ हुआ। किन्तु यह मत ऐतिहासिक साक्ष्य से समर्थित नही है, क्योकि न्यायदर्शन और व्याकरण-दर्शन के पूर्व वैदिक-चिन्तन मे भी परिभाषा का विकास हुआ था, जो मूलतः न्याय और मीमांसा तथा व्याकरण का उत्स है। वैदिक चिन्तन मे कल्प-सूत्रों का विशेष महत्त्व है। इन कल्प-सूत्रों में श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र आते हैं। श्रौतसूत्रों में कुछ ऐसे सूत्र हैं जिन्हें परिभाषा कहा जाता है अर्थात् श्रौत-सूत्रों के एक भाग को परिभाषा कहा जाता है। इन परिभाषाओ को व्याख्या-नियम भी कहा जाता है क्योंकि वे अन्य सूत्रों के भाष्य तथा प्रयोग को निर्धारित करती है।

आधुनिक अनुसधान से यह ज्ञात हुआ है कि परिभाषा का प्रयोग सर्वप्रथम भारद्वाज ने किया था।[1] उनका श्रौत-सूत्र जिसे भारद्वाज श्रौत-सूत्र कहा जाता है आज भी उपलब्ध है, यद्यपि वह अपूर्ण रूप मे ही प्राप्त है। एक दूसरा ग्रन्थ भारद्वाज परिशेष है अर्थात् वह भारद्वाज श्रौत-सूत्र का ही अंश है। उसमे बहुत प्रक्षिप्त अश भी है, इसलिए वह उतना प्रामाणिक नही है जितना भारद्वाज श्रौतसूत्र।

भारद्वाज के द्वारा चलायी गयी परिभाषा-प्रणाली को आपस्तम्ब, बौधायन, आश्वलायन, हिरण्यकेशि, शाख्यायन, लाट्यायन, वाराह, जैमिनि, कात्यायन आदि ने आगे बढ़ाया। इन ऋषियों ने अपने-अपने श्रौतसूत्र लिखे और उनमें परिभाषा का सम्यक् विवेचन किया। इस क्रिया मे कात्यायन श्रौत-सूत्र अन्तिम है।[2] इस प्रकार भारद्वाज से लेकर कात्यायन तक परिभाषा के स्वरूप, उद्भव, विकास तथा विषय का विवेचन हुआ है। इस विवेचन के फलस्वरूप आगे चलकर न्याय और मीमांसा दर्शनो के सूत्र रचे गये क्योंकि आरम्भ में न्याय का अर्थ वही था जो मीमांसा का और इन दोनो का अर्थ था व्याख्या का सामान्य नियम। मीमांसा को आज भी व्याख्या के नियम के रूप मे लिया जाता है। किन्तु न्याय को प्राय व्याख्या का नियम न मान कर अनुमान का नियम माना जाता है। परन्तु जैमिनीय-न्यायमाला, लौकिक-न्याय, मीमांसा-न्याय आदि प्रयोगो में न्याय,

संदर्भ और टिप्पणी

१ अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ, महादेवानन्द सरस्वती, कलकत्ता, १९०१, पृ० १६ ।

२ यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वम् मृण्मयं विज्ञातं स्यात् ।
छान्दोग्य उपनिषद्, ६,१,४ ।

३ न्यायकोश, पृ० ६९७ ।

४ तर्कशास्त्र का परिचय, इरविंग एम० कोपी, हिन्दी अनुवाद, प्रो० सगम लाल पाण्डेय और गोरखनाथ मिश्र, द्वितीय संस्करण, १९७२, पृ० ८४ ।

५ Introduction to Logic, Irving M Copi, 6th edition, 1982, p. 135 ।

६ भारतीय तर्कशास्त्र का परिचय, प्रो० सगमलाल पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद १९६९, पृ० ४३।४४ ।

७ न्यायभूषण, पृ० ९ ।

८ वही पृ० ७ ।

९ इरविंग एम० कोपी के उपर्युक्त ग्रंथ में उद्धृत पृ० ८५ ।

१० वही पृ० १३८-१४५, १४६, १५४ ।

११ Connotative definitions, especially definitions by genus and differentiam, can serve any of the purposes discussed in section 4 1 and can be of the types enumerated in section 4.3. Ibid., p. 164 ।

4

परिभाषा और परिष्कार

(३५) आजकल प्राय: माना जाता है कि भाषा-विश्लेषण भारतवर्ष में न्याय-दर्शन तथा व्याकरण-दर्शन से आरम्भ हुआ। किन्तु यह मत ऐतिहासिक साक्ष्य से समर्थित नहीं है, क्योंकि न्यायदर्शन और व्याकरण-दर्शन के पूर्व वैदिक-चिन्तन में भी परिभाषा का विकास हुआ था, जो मूलत: न्याय और मीमासा तथा व्याकरण का उत्स है। वैदिक चिन्तन मे कल्प-सूत्रों का विशेष महत्व है। इन कल्प-सूत्रों मे श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र आते है। श्रौतसूत्रों में कुछ ऐसे सूत्र हैं जिन्हे परिभाषा कहा जाता है अर्थात् श्रौत-सूत्रों के एक भाग को परिभाषा कहा जाता है। इन परिभाषाओं को व्याख्या-नियम भी कहा जाता है क्योंकि वे अन्य सूत्रो के भाष्य तथा प्रयोग को निर्धारित करती है।

आधुनिक अनुसंधान से यह ज्ञात हुआ है कि परिभाषा का प्रयोग सर्वप्रथम भारद्वाज ने किया था।[1] उनका श्रौत-सूत्र जिसे भारद्वाज श्रौत-सूत्र कहा जाता है आज भी उपलब्ध है, यद्यपि वह अपूर्ण रूप मे ही प्राप्त है। एक दूसरा ग्रन्थ भारद्वाज परिशेष है अर्थात् वह भारद्वाज श्रौत-सूत्र का ही अंश है। उसमे बहुत प्रक्षिप्त अंश भी है इसलिए वह उतना प्रामाणिक नही है जितना भारद्वाज श्रौतसूत्र।

भारद्वाज के द्वारा चलायी गयी परिभाषा-प्रणाली को आपस्तम्ब, बौधायन, आश्वलायन, हिरण्यकेशि, शांख्यायन, लाट्यायन, वाराह, जैमिनि, कात्यायन आदि ने आगे बढ़ाया। इन ऋषियों ने अपने-अपने श्रौतसूत्र लिखे और उनमे परिभाषा का सम्यक् विवेचन किया। इस क्रिया में कात्यायन श्रौत-सूत्र अन्तिम है।[2] इस प्रकार भारद्वाज से लेकर कात्यायन तक परिभाषा के स्वरूप, उद्भव, विकास तथा विषय का विवेचन हुआ है। इस विवेचन के फलस्वरूप आगे चलकर न्याय और मीमासा दर्शनों के सूत्र रचे गये क्योंकि आरम्भ में न्याय का अर्थ वही था जो मीमासा का और इन दोनो का अर्थ था व्याख्या का सामान्य नियम। मीमासा को आज भी व्याख्या के नियम के रूप मे लिया जाता है। किन्तु न्याय को प्राय: व्याख्या का नियम न मान कर अनुमान का नियम माना जाता है। परन्तु जैमिनीय-न्यायमाला, लौकिक-न्याय, मीमासा-न्याय आदि प्रयोगों मे न्याय,

का अर्थ आज भी व्याख्या का नियम ही है। काशिकावृत्ति में कहा गया है कि "नीयते अनेन इति न्याय." ।[३] यहाँ न्याय का अर्थ वह सामान्य नियम है जिससे किसी पद, वाक्य या ग्रन्थ की व्याख्या की जाती है। श्रौत सूत्रों में परिभाषा का जो विकास हुआ है उसके सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं—

(१) परिभाषा एक वाक्य होती है।

(२) परिभाषा की शब्दावली नपी-तुली होती है। उससे अनावश्यक शब्द नहीं रहते है।

(३) परिभाषा अर्थ को स्पष्ट करती है। वह अस्पष्टता और अनेकार्थकता को दूर करती है।

(४) परिभाषा के द्वारा अर्थ का जो स्पष्टीकरण किया जाता है उसके लिए परिभाषा युक्ति भी देती है।

(५) परिभाषा का विकास यज्ञ-प्रक्रिया में हुआ जहाँ अनेक सामग्री, अनेक मन्त्र, अनेक याजक और अनेक प्रयोग होते थे और मन्त्रों तथा ब्राह्मणों से यह निश्चित नहीं था कि किस प्रसङ्ग में कौन याजक हो, किस मन्त्र का प्रयोग किया जाय, किस सामग्री का उपयोग किया जाय अथवा किस प्रकार या प्रयोजन से यज्ञ किया जाय। ऐसे अवसरों पर स्पष्टता प्रदान करने के लिए अथवा जहाँ कोई नियम नहीं है वहाँ नियम बनाने के लिए परिभाषा का प्रयोग किया गया। इस प्रकार यह कहना गलत है कि परिभाषा भाषा-विश्लेषण का विषय होने के कारण ऐसे क्षेत्रों में विकसित हुई जिनका यज्ञ, अध्यात्म या धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(३६) श्रौत-सूत्रों में परिभाषा को तीन प्रकार से विभाजित किया गया है—(१) श्रौती, (२) ज्ञापिता और (३) सौत्री। जब ब्राह्मण-ग्रन्थों के किसी वाक्य को प्रायः शब्दशः रखा जाता है तो उसे श्रौती परिभाषा कहते है। उदाहरण के लिए यजुर्वेदेन अध्वर्युः करोति ऋग्वेदेन होता, सामवेदेन उद्गाता-आपस्तम्ब श्रौत सूत्र की ये परिभाषाएँ श्रौती है। ज्ञापिता वह परिभाषा है जिसे सूत्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों से निष्कर्ष निकाल कर रखता है, उदाहरण के लिए "ब्राह्मणानां आर्त्विज्यम्", यह आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र २३-१-२१ की परिभाषा है। इसका अर्थ है कि ब्राह्मण ही ऋत्विक् हो सकता है। कौन ऋत्विक् हैं? यह निश्चित नहीं है। इसका निश्चय करने के लिए परिभाषा दी गई कि ब्राह्मण ऋत्विक् होता है।

सौत्री वह परिभाषा है जो कोई युक्ति देती है। उदाहरण के लिये आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र २४-३-४८ ऐसी परिभाषा है। वह परिभाषा निम्नलिखित है—"अर्थ-द्रव्यविरोधे अर्थो बलीयान् अर्थात् जहाँ प्रयोजन और वस्तु में विरोध हो वहाँ प्रयोजन लिया जाता है। उदाहरण के लिए, यज्ञ के लिए खदिर का यूप होना चाहिए, किन्तु यदि खदिर न मिले या छोटा हो तो उसके स्थान पर पलाश या किसी अन्य लकड़ी का प्रयोग किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि खदिर या पलाश यहाँ मुख्य अर्थ नहीं है। मुख्य अर्थ पशु का यूप मे बाँधा जाना है, उसे चाहे खदिर-यूप में बाँधा जाय या पलाश-यूप में। इस प्रकार सौत्री परिभाषाएँ बलाबल सूत्र कही जाती है क्योंकि वे किसी अर्थ को अन्य अर्थों से बलवान् सिद्ध करती हैं। प्रस्तुत प्रसंग मे सौत्री परिभाषा ने सिद्ध किया कि यूप का प्रयोजन यूप की लकड़ी से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(३७) श्रौतसूत्रो मे परिभाषा के निम्नलिखित प्रयोजन बताये गये हैं—

(१) जहाँ अनियम रहता है वहाँ परिभाषा नियम बताती है। प्रश्न है, जब मन्त्र का उच्चारण हो रहा है तब अग्नि में हवन कब छोड़ा जाय? यहाँ कोई नियम नहीं था, इसलिये परिभाषा बनाई गई कि 'वषट्कृते वषट्कारेण वा आहुतिषु सन्निपातेषु।'[१] वषट् कह चुकने पर या वषट् कहते समय अग्नि मे हवन छोड़ा जाय।

यह परिभाषा हवन करने का समय बताती है। इसके अनुसार जब वषट् (स्वाहा) का उच्चारण हो तो उसी समय या उसका उच्चारण हो जाने के बाद अग्नि मे हवन-सामग्री डालनी चाहिए।

(२) परिभाषा का प्रयोग संक्षिप्त कथन के लिए भी किया जाता है। उदाहरण के लिए, आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र १-१-१७ में कहा गया है कि "ऋचम् पादग्रहणे" अर्थात् ऋग्वेद के किसी सूक्त को बताने लिए के उसका पहला पद बताना चाहिए, जैसे पुरुष-सूक्त का पहला पद है "सहस्रशीर्षा पुरुषः।" यह पद परिभाषा द्वारा पूरे पुरुषसूक्त का अर्थ दे सकता है जिसमें कुल ६४ पद है। इस प्रकार इस पद का परिभाषा द्वारा अर्थ चौसठों पद है। यहाँ परिभाषा संक्षेपक (Abbreviation) का कार्य करती है।

(३) परिभाषा विस्तार में उस बात को बताती है जो किसी श्रौत-सूत्र मे संक्षेप में कही गयी है। उदाहरण के लिए, आपस्तम्ब ने अपने

श्रौत-सूत्र में यज्ञ का विधान बताया है, किन्तु उन्होंने वहाँ यह नहीं बताया कि यज्ञ कौन करे। अतः उनको एक परिभाषा देनी पड़ी "अध्वर्यिम् कर्त्तारम्"[१] अर्थात् अध्वर्यु यज्ञ करें। यहाँ परिभाषा पूरक कथन का कार्य करती है।

(४) कभी-कभी परिभाषा बलाबल का निर्धारण करती है, जैसे "अर्थ-द्रव्यविरोधे अर्थो बलीयान्", यह परिभाषा है जिसे ऊपर समझा दिया गया है।

(५) परिभाषा अतिदेश का भी काम करती है अर्थात् वह किसी नियम का प्रयोग अपने प्रसंग से मिलते-जुलते अन्य प्रसगों में भी करती है।

(६) कभी-कभी परिभाषाएँ किसी यज्ञ के सभी अगों का वर्णन भी करती हैं। स्वयं यज्ञ की परिभाषा भी इस कोटि में आती हैं। "यज्ञ मन्त्रदेवतात्यागः" अर्थात् जिस कर्म मे मन्त्र, देवता और त्याग (हवन, दान, दक्षिणा) हो उसे यज्ञ या याग कहते हैं।

(७) यद्यपि परिभाषा को सज्ञा, विधि, नियम (निषेध), अतिदेश और अधिकार से पृथक् किया गया है तथापि यह पृथक्करण बहुत स्पष्ट और निश्चयात्मक नहीं है, क्योंकि परिभाषाएँ संज्ञा, विधि, निषेध, अतिदेश और अधिकार का भी कार्य कभी-कभी करती है।

(३८) परिभाषाओं का परिष्कार भी श्रौत-सूत्र साहित्य में मिलता है। यह परिष्कार कई प्रकार का दिखायी पड़ता है।

(१) परिभाषा के अनावश्यक पदो को हटा देना। उदाहरण के लिए, भारद्वाज श्रौत-सूत्र मे मन्त्र की परिभाषा दी गयी—"आदिप्रदिष्टा मन्त्रा भवन्ति", इस परिभाषा मे भवन्ति शब्द अनावश्यक था, इसलिए आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र मे 'भवन्ति' को हटा दिया गया और केवल "आदि प्रदिष्टा मन्त्रा", इतने को ही परिभाषा माना गया।

(२) कभी-कभी पूर्ववर्ती परिभाषा मे किसी पद का निवेश करके अर्थात् उसको जोड़कर परिभाषा को परिष्कृत किया जाता है। उदाहरण के लिए "न विहाराद् अपपर्यावर्तेत" (भारद्वाज श्रौत-सूत्र १।१।१४), इसको आश्वलायन श्रौत-सूत्र मे विहारादि अभ्यातितश्च तत्र चेत् कर्म" (आश्वलायन श्रौत-सूत्र १।१।११) कह करके और सुनिश्चित बनाया गया।

(३) कभी-कभी हेतु देकर परिभाषा को परिष्कृत किया जाता है। उदा-

हरण के लिए आपस्तम्ब ने ऋत्विक की परिभाषा दी थी—"ब्राह्मणानां आर्त्विज्यम्।"[६] किन्तु उन्होंने अपनी परिभाषा के लिए कोई हेतु नहीं दिया था। कात्यायन ने उसी परिभाषा को हेतु देते हुए निम्नलिखित प्रकार से रख दिया- ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्षप्रतिषेधात् इतरयोः दर्शनाच्च (कात्यायन श्रौत-सूत्र १।२।८।९), ब्राह्मण को इसलिए ऋत्विक् कहा गया क्योंकि उसे श्रुतियों में ऐसा कहा गया है और वह अन्य वर्णों की तुलना में अधिक शुद्ध आहार करने वाला होता है।

(४) परवर्ती सूत्रकारों ने अनुवृत्ति की विधि को अपनाकर परिभाषा से पुनरुक्ति को हटा दिया।

(५) कभी-कभी परवर्ती सूत्रकार अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो पूर्ववर्ती परिभाषा की शब्दावली से भिन्न होता है और कदाचित् उनके देश-काल की माँग के अनुकूल होता है। उदाहरण के लिए आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४।२।१० में परिभाषा दी गयी थी—"उत्तरात् उपचारो विहारः।" कात्यायन ने इस परिभाषा में विहार के स्थान पर यज्ञः का प्रयोग कर दिया और उनकी परिभाषा हो गयी "उत्तरात् उपचारो यज्ञः" (कात्यायन श्रौत-सूत्र १।८।२६)। इसी प्रकार बौधायन श्रौत-सूत्र में पूर्वातत्ति और उत्तरातत्तिः शब्दों का प्रयोग किया गया है और आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र में उनके स्थान पर प्रकृतिः और विकृतिः का प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रयोग सरलीकरण की प्रक्रिया और भाषा-विकास के कारण होता है। इस प्रकार श्रौत-सूत्र साहित्य में केवल परिभाषाएँ ही नहीं दी गयी है, अपितु उनके परिष्कार भी किये गये हैं और उनके लिए युक्तियाँ भी दी गयी है।

व्याकरण-दर्शन में परिभाषा-सिद्धान्त

(३९) व्याकरण-शास्त्र में परिभाषा का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। पहले अर्थ में परिभाषा एक आधुनिक संकेत है जिसे आजकल ऐच्छिक परिभाषा (Stipulative Definition) कहा जाता है। पाणिनि ने वृद्धि, गुण, संधि, समास, संयोग लोप, आगम, आदेश, पद आदि शब्दों की परिभाषाएँ की है और इन परिभाषाओं का प्रयोग शब्दों की व्युत्पत्ति या सिद्धि में किया है। उदाहरण के लिए वृद्धिरादैच और अदेङ्गुणः क्रमशः वृद्धि और गुण की परिभाषाएँ है जिनका प्रयोग सन्धि में किया जाता है। वास्तव में पाणिनि के सूत्र छः प्रकार के हैं जिन्हें संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार कहा जाता है—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥[७]

परिभाषा का दूसरा अर्थ व्याख्या के नियम हैं। इसे हम न्याय कह सकते है। यह अर्थ सीधे श्रौतसूत्र की परिभाषा से लिया गया है। इस अर्थ मे अष्टाध्यायी के सूत्रो के अतिरिक्त परिभाषा-पाठ है जिनके ऊपर अनेक वैयाकरणो ने अपनी-अपनी वृत्तियाँ लिखी है। इनमें से नागोजी भट्ट की वृत्ति का विशेष महत्त्व है जिसे परिभाषेन्दुशेखर कहते है। इसका महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि इस पर एक दर्जन से अधिक टीकाएं लिखी गयी है। नागोजी भट्ट के परिभाषेन्दुशेखर के अतिरिक्त व्याकरण की ऐसी सभी परिभाषाओं को के० वी० अभ्यकर न परिभाषा-सग्रह मे संकलित करके भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट पूना से प्रकाशित किया है। नागोजी भट्ट ने एक सौ बत्तीस परिभाषाएँ दी है। व्याडि ने एक सौ चालीस परिभाषाएं और हेमहंसगणि ने श्रीसिद्ध हेमचन्द्र व्याकरण न्यायसंग्रह मे एक सौ इकतालीस परिभाषाएँ दी हैं। इसी प्रकार भोजदेव, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर, शेषाद्रि आदि ने जिन परिभाषाओ का संग्रह किया है उनमें उनकी संख्या उपर्युक्त संख्याओ से कम है। सारांश यह है कि अधुना व्याकरण-शास्त्र में प्रायः एक सौ बत्तीस परिभाषाएँ प्रचलित हैं।

(४०) इन परिभाषाओं की आलोचना को परिष्कार कहा जाता है। इनका परिष्कार करते हुए नागोजी भट्ट ने कई परिभाषाओ को अप्रामाणिक बतलाया है क्योकि उनमे व्यभिचार-दोष है और वे पतजलि के व्याकरण महाभाष्य मे उपलब्ध नही है। ऐसी परिभाषाओ मे अकृतव्यूहा. पाणिनीया और विधौ परिभाषोपतिष्ठ तेनानुवादे, इन दो परिभाषाओ को लिया जा सकता है। इनकी आलोचना मे नागोजी भट्ट का कहना है कि यदि इन्हे न माना जाय तो भी व्याकरणशास्त्र का कोई काम रुकता नहीं है। अतएव ये परिभाषाएं केवल दूषित ही नही वरन् अनावश्यक भी हैं।[८]

(४१) इन परिभाषाओ में कुछ बलाबल की परिभाषाएं है। कातन्त्र परिभाषा-सूत्र मे उनको अलग से संग्रहीत किया गया है और उनकी संख्या उन्तीस हैं। विप्रतिषेधे परं कार्यम्, पूर्वपरयोः परविधिर्बलवान्, उपपदसिद्धे. कारक-सिद्धिर्बलीयसी, अतरंगबहिरंगयोरन्तरंगविधिर्बलवान्, उत्सर्गापवादयोरपवाद विधिर्बलवान्, आदि नियम प्रमुख रूप से व्यवहृत होते है। ऐसी परिभाषाएँ न्याय है, यह हेमहंस गणि के ग्रन्थ मे स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि उन्होंने अपने परिभाषा-संग्रह का नाम व्याकरण-न्याय-सग्रह रखा है।

(४२) आधुनिक भाषा-दर्शन के लिए इन परिभाषाओं का महत्त्व विशेष रूप से दिखाया जा सकता है। इनमे से कुछ परिभाषाएँ अर्थविज्ञान (Semantics)

से सम्बन्धित हैं तो कुछ वाक्यरचना विज्ञान (Syntactics) में। उदाहरण के लिए, बलाबल प्रदर्शित करने वाली परिभाषा वाक्य-रचना-विज्ञान से सम्बन्धित है, क्योंकि ये बताती है कि किसी शब्द विशेष की सिद्धि के लिए किन सूत्रो का प्रयोग किया जाना चाहिए और कौन सूत्र ऐसे प्रयोग से हटा दिये जाते है। पुनश्च कुछ परिभाषाएँ अर्थविज्ञान से सम्बन्धित है, जैसे बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि, यह परिभाषा तद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहि समास के अर्थ को स्पष्ट करती है। फिर इन परिभाषाओं मे कुछ ऐसी है जिन्हें आजकल अनुमान के नियम कहा जाता है, उदाहरण के लिए, द्विधा निषेध का सिद्धान्त व्यक्त करने वाली निम्नलिखित परिभाषा है जो हेम हंस गणि के संग्रह से मिलती हैं—"द्वौ नञौप्रकृतमर्थं गमयतः"—दो नकार प्रकृत अर्थ को निर्दिष्ट करते है। अतः न अगोः = गौः या न अघटः = घटः। कुछ परिभाषाएँ प्रयोग-विज्ञान (*Pragmatics*) से भी सम्बन्धित है जैसे "च" का प्रयोग बताने वाली परिभाषा चकारो यस्मात्परस्तत्सजातीयमेव समुच्चिनोति अर्थात् "च" (और) अपने सजातीयों का ही समुच्चय करता है। इस प्रकार अर्थ-विज्ञान, संरचना-विज्ञान और प्रयोग-विज्ञान इन तीनो से व्याकरण की परिभाषाओं का गहरा सम्बन्ध है। परन्तु ये परिभाषाएँ मूल रूप से न्याय हैं और अष्टाध्यायी की परिभाषाएँ जिनको हमने प्रथम प्रकार की परिभाषा कहा है, विशेष रूप से इन तीनो विज्ञानों से सम्बन्धित हैं। आजकल जिसे रचनात्मक-व्याकरण (Generative Grammar) कहा जाता है उसका पूर्ण विकास पाणिनि-व्याकरण मे देखने को मिलता है। किन्तु इन परिभाषाओं का पृथक् विवेचन व्याकरण-शास्त्र मे नहीं किया गया है। आजकल इसकी आवश्यकता अधिक है।

(४३) व्याकरण-शास्त्र में परिभाषाओं के परिष्कार को लेकर बहुत अधिक विवेचन किया गया है। किन्तु इस विवेचन पर नव्य-न्याय की परिभाषा-विधि का विशेष प्रभाव पड़ा है। अतः परिष्कार-विधि का विवेचन नव्य-न्याय के परिभाषा-सिद्धान्त के प्रसङ्ग मे आगे किया जायेगा। किन्तु हम यहाँ दो प्रकार की आलोचना को रेखांकित करना चाहते हैं जिन्हें न्यास और परिष्कार कहा जाता है। न्यास का प्रयोजन यह दिखाना होता है कि किसी सूत्र में जितने शब्द का प्रयोग किया गया है, वे सब अनिवार्य तथा पर्याप्त हैं और उनको घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता है। इस दृष्टि से पाणिनि के सभी सूत्रों की आलोचना की जा सकती है। पुनश्च परिष्कार वह आलोचना है जो प्रचलित परिभाषा से किसी पद को हटाती है या उसमे कोई पद जोड़ती है। ऐसा करके उस परिभाषा को निर्दोष दिखाया जाता है और उसमें दोषोद्भावना करने वाली सभी युक्तियों का खण्डन किया

जाता है। परिष्कार और न्यास दोनों में आलोचक का मार्ग-निर्देशन एक परिभाषा करती है जो निम्नलिखित है :—

अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।[९]

इसका तात्पर्य है कि अगर किसी सूत्र में आधी मात्रा भी कोई वैयाकरण कम कर सकता है तो उसे अपार हर्ष होता है। इस दृष्टि से परिभाषा को अल्पाक्षर होना आवश्यक है। भवत्रात ने जैमिनीय-श्रौतसूत्र की वृत्ति मे कहा है कि परिभाषा वह सूत्र है जो शब्दतः अल्पतर होता है और अर्थतः महत्तर होता है— "इदम् अल्पतरं सूत्रं अर्थतस्तु महत्तरम्।"[१०] परिभाषा लघु वाक्य है, किन्तु उसका अर्थ-गौरव बहुत अधिक है।

इसी बात को शिशुपालवध मे कविवर माघ ने उद्घाटित किया है—

परितः प्रमिताक्षरापि सर्वं विषयं
प्राप्तवती गता प्रतिष्ठाम्।
न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित्
परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा॥[११]

(४४) इसी प्रकार परिभाषा का स्वरूप उद्घाटित करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि परिभाषा किसी शास्त्र के एकदेश मे स्थित होकर भी सम्पूर्ण शास्त्र को वैसे ही प्रकाशित करती है जैसे दीपक एक कोने मे स्थित होकर सम्पूर्ण कक्ष को प्रकाशित करता है।[१२] वास्तव मे परिभाषा प्रत्येक शास्त्र का एक अनिवार्य अंग है, उसी से अर्थात् परिभाषाओं के संग्रह से ही वह शास्त्र विकसित और समर्थित तथा संस्थापित होता है। नागोजीभट्ट ने परिभाषा के इस स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाले निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है—

एकदेशस्थिता शास्त्रभवने याति दीपताम्।
परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते।[१३]

एकदेश मे स्थित होकर शास्त्र को सर्वतः व्यापृत करके व्याख्या करना परिभाषा है। मल्लिनाथ लिखते हैं कि अनियम का निवारण करने वाला न्याय-विशेष परिभाषा है—परिभाषा अनियमनिवारको न्याय-विशेषः।[१४] किन्तु परिभाषा को अनियमे नियमकारिणी नहीं कहा जा सकता क्योंकि भैरव मिश्र ने इसमें अतिव्याप्ति का दोष दिखलाया है। उनका कहना है कि यह परिभाषा आख्यात-नियमार्थसूत्रों मे भी लागू होती है।

यदपि अनियमे नियमकारित्वम् इत्येव तदपि
न अत्र आख्यातनियमार्थसूत्रेष्वतिव्याप्तेः।[१५]

अतः परम् परिभाषा का साधु लक्षण करने का प्रयत्न किया गया। इस प्रसंग में पं० जयदेव मिश्र ने परिभाषेन्दुशेखर की अपने द्वारा की गई विजया नामक टीका में परिभाषा का जो लक्षण किया है, वह महत्वपूर्ण है। उन्होंने इसका लक्षण यों किया है :—"विधिशास्त्रप्रवृत्तिनिवृत्युपयोगिसाधुत्वाप्रकारकशक्त्य-विषयकबोधजनकत्वे सति अधिकारशास्त्रभिन्नत्वं परिभाषात्वम्[१६]" अर्थात् परिभाषा स्वतः किसी शब्द के साधुत्व का प्रतिपादन नहीं करती है। साधुत्व-प्रतिपादन का काम विधि-सूत्र, नियम-सूत्र और अतिदेश-सूत्र करते हैं। इन सूत्रों से परिभाषा-सूत्र को भिन्न करने के लिए परिभाषा को विधि-शास्त्र-प्रवृत्ति-निवृत्ति-उपयोगि-साधुत्व-अप्रकारक कहा गया। पुनश्च सञ्ज्ञा-सूत्रों से भिन्न करने के लिए उसको शक्ति-अविषयक बोधजनकत्वे सति कहा गया और अधिकार-सूत्रों से भिन्न करने के लिए अधिकारशास्त्रभिन्नत्वम् कहा गया। इस प्रकार परिभाषा का यह लक्षण पाणिनि के परिभाषा-सूत्रों पर घटित होता है। इस लक्षण में कोई दोष नहीं है।

(४५) हम पहले कह आये हैं कि श्रौतसूत्रों और व्याकरण में परिभाषा एक विशेष प्रकार का न्याय है। न्याय-प्रदर्शन में परिभाषा के इस स्वरूप का विशेष रूप से उद्घाटन किया गया है। व्याकरण की एक परिभाषा है—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्[१७] अर्थात् जहाँ सन्देह हो वहाँ व्याख्यान से तत्त्व-निर्णय करना चाहिए और एकायक यह नहीं मान लेना चाहिए कि कोई लक्षण या परिभाषा नहीं है। तात्पर्य यह है कि जहाँ सन्देह हो वहाँ परिभाषा का सहारा लेकर सन्देह को दूर करना चाहिए। इसीलिए सन्देह-निवृत्ति को परिभाषा का एक प्रयोजन भी माना गया है। परिभाषा सन्देह को दूर करती है। वात्स्यायन के अनुसार न्याय भी यही कार्य करता है। वे कहते हैं कि न्याय की प्रवृत्ति अनुपलब्ध और निश्चित अर्थों में नहीं होती है किन्तु संदिग्ध अर्थ में होती है अर्थात् जहाँ सन्देह होता है वहीं न्याय का प्रयोग किया जाता है। "तत्र नानुपलब्धेन निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे[१८]। वे पुनः कहते हैं कि न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति त्रिविध है उद्देश, लक्षण और परीक्षा। "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः-उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चेति[१९]।" पदार्थों का नामकरण करना उद्देश है, उद्दिष्ट वस्तु का व्यवच्छेदक धर्म लक्षण है और लक्षण ठीक है या नहीं, ऐसा निश्चय करना परीक्षा है। स्पष्ट है कि न्याय-शास्त्र के ये तीनों व्यापार परिभाषा से ही सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए, कारण की परिभाषा को लीजिए। कारण पद का प्रयोग उद्देश है। जो नियत पूर्ववर्ती है वह कारण है, यह कारण की परिभाषा है। इस परिभाषा की परीक्षा करना और

कारण को निश्चित रूप मे परिभाषित करना परीक्षा है। अत: श्रौत- कर व्याकरणशास्त्र तक जो परिभाषा-शास्त्र विकसित हुआ है उसी अग्रिम कड़ी न्याय-दर्शन है।

९६) न्याय-दर्शन ने परिभाषा-सिद्धान्त को विकसित करने के लिए दावलियो का प्रयोग आरम्भ किया। उसके पूर्व परिभाषा शब्द का ण शब्द की अपेक्षा अधिक किया जाता था। किन्तु उसने चूँकि परिभाषा- प्रयोग न्याय के अर्थ मे किया, इसलिए उसने परिभाषा के लिए लक्षण प्रयोग किया और न्याय-दर्शन के दो विभाग किये गये लक्षण तथा प्रमाण। ाषा-शास्त्र मे लक्षण और प्रमाण शब्दों का प्रयोग पृथक्-पृथक्

क्षण और प्रमाण इन दो शब्दों का प्रयोग करने के कारण न्यायदर्शन षयों को लक्षित (लक्ष्य) और प्रमेय (मेय) कहा। इसके पहले लक्ष्य या ई पद ही होता था। किन्तु न्यायदर्शन ने लक्षितों मे प्रमेयों को भी या और इन प्रमेयों को पदार्थ कहा। इस प्रकार जहाँ पहले पद का किया जाता था या पद की ही परिभाषा की जाती थी वहाँ अब पदार्थ षा की जाने लगी। यह परिभाषा-सिद्धान्त का गुणात्मक और परिमा- नों प्रकार का विकास है। परिभाषा केवल भाषा अर्थात् भाषा-दर्शन नहीं रह गयी, अपितु वह पदार्थ-विज्ञान, तत्त्वमीमासा, ज्ञानमीमासा तिक विज्ञान तथा मनोविज्ञान का भी विषय बन गयी। इस प्रकार न्याय- रिभाषा सिद्धान्त का विज्ञान मे उपयोग किया। उसने निर्णय लिया कि र प्रमाण मे वस्तु-सिद्धि होती है---लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः। अगर तु का कोई लक्षण नही है और उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है, तो फिर का कोई अस्तित्व नही है और वह वस्तु निरर्थक है।

क्षण और प्रमाण से पदार्थ-विज्ञान के विषयो का जो ज्ञान होता है, प्रथम उद्देश या नामकरण आता है। फिर उद्दिष्ट पदार्थों का विभाग) आता है जिसको न्याय-दर्शन उद्देश ही के अन्तर्गत रखता है अर्थात् ाय-दर्शन का कोई चौथा कार्य नही है वरन् वह उद्देश के ही अन्तर्गत । में ही प्रमाण और प्रमेय का विभाग आता है। तत्पश्चात् प्रमाण का या जाता है। प्रमाण को इसीलिए लक्षण-निबन्धन (लक्षणाधीन) कहा यदि प्रमाण का लक्षण नही किया जा सकता, तो प्रमाण असिद्ध है। लक्षण के उपरान्त प्रमेय की सिद्धि होती है। इस प्रकार प्रमेय प्रमाणा-

धीन होते है और प्रमाण लक्षणाधीन । लक्षण के विवेचन को बौद्ध दार्शनिक ज्ञानश्री ने लक्षण-शास्त्र कहा है जैसे प्रमाण के विवेचन को प्रमाण-शास्त्र कहा जाता है। लक्षणशास्त्र और प्रमाण-शास्त्र मे कौन प्रधान है तथा कौन अप्रधान, इस विषय पर दो मत हैं जिनका उल्लेख भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण मे किया है। पहले, उन्होने प्रमाण को प्रधान तथा लक्षण को अप्रधान माना, क्योकि प्रमाणादि पदार्थों के लिए ही लक्षण का उपयोग किया जाता है। किन्तु बाद मे उन्होंने कहा कि यदि लक्षण का निश्चय नहीं होता, तो पदार्थो का भी निश्चय नही होगा। इसलिए लक्षण को ही प्रधान मानना चाहिए। उनकी सम्मति से लक्षण-शास्त्र ही प्रधान लगता है क्योकि "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" ऐसा नियम हे। इस प्रकार प्रमाण-शास्त्र और लक्षण-शास्त्र के संबंध का निश्चय किया जा सकता है।

भासर्वज्ञ का मत समकालीन विश्लेषण-दर्शन के अनुकूल है और पहला मत काण्ट, ब्रैडले, मूर और ए० जे० एयर आदि ज्ञान-मीमांसको के मत के। भासर्वज्ञ के मत से लक्षण-शास्त्र एक दार्शनिक-विधि है जो प्रमाणशास्त्र से अधिक मूलगामी है।

(४७) न्याय-दर्शन ने लक्षण की परीक्षा को भी विधिवत् आरम्भ किया। उसके पहले लक्षण की परीक्षा साधारण ज्ञान के आधार पर की जाती थी। न्याय-दर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणो के द्वारा परीक्षा का सूत्रपात् किया। इस परीक्षा में उसने लक्षण के तीन दोषों को उद्घाटित किया जो अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, तथा असंभव दोष हैं। अतिव्याप्त लक्षण वह है जो लक्ष्य से भिन्न पदार्थो पर भी लागू होता है, जैसे यदि कहा जाय कि दो सींग वाला पशु गाय है, तो यह लक्षण अतिव्याप्त है, क्योकि यह भैंस, भेड़ आदि पर भी लागू होता है। अव्याप्त लक्षण वह है जो लक्ष्य पदार्थ के एकदेश में ही लागू हो, जैसे कृष्ण-वर्ण पशु गाय है, यह लक्षण उन गायों पर भी लागू नही होता जो काली नहीं है। अन्त में असंभव लक्षण वह है जो लक्ष्य मे बिलकुल लागू न हो, जैसे एक खुरवाला पशु गाय है, यह लक्षण किसी गाय पर घटित नही होता है, क्योंकि किसी गाय के एक खुर नहीं होता और उसके दो खुर होते है।

परन्तु असम्भव दोष को वसवत वासुदेव अभ्यंकर ने अव्याप्ति का ही एक उत्कृष्ट प्रकार कहा है[२०]। किन्तु उनका मत ठीक नही है, क्योंकि असम्भव दोष का सम्बन्ध अव्याप्ति से नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि कहा जाय कि कार्य वह है जिसका सत्त्व कारण में विद्यमान हो तो यह लक्षण न्याय दर्शन के अनुसार असम्भव है। अतः असम्भव दोष को किसी दृष्टि-विशेष से ही देखना चाहिए। इसीलिए उसका असली अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रो० एस० एस० बारलिंगे ने असम्भव दोष को अप्रासंगिकता (Irrelevance) कहा है[२१]। नीलकंठ भट्ट ने अतिव्याप्ति को

व्यभिचार हेत्वाभास, अव्याप्ति को भागासिद्धि हेत्वाभास और असम्भव को स्वरूपासिद्धि हेत्वाभास कहा है[२२]। ऐसा इसलिए कहा गया है क्योंकि लक्षण को व्यतिरेकी हेतु माना जाता है। हेतु-वचन होने के कारण लक्षण-दोष हेत्वाभास के अन्दर आते हैं।

न्याय-दर्शन ने इन तीनों दोषों से रहित लक्षण को ही शुद्ध माना और दूषण-त्रय रहित धर्म को लक्षण कहा। जब असाधारण धर्म को लक्षण कहा जाता है तो असाधारण धर्म का ज्ञान भी दूषण-त्रय के निवारण से होता है। इसी प्रकार जब लक्षण को लक्ष्यतावच्छेदक-समनियतत्व कहा जाता है तो इसकी भी जानकारी दोषत्रय के निवारण द्वारा ही होती है। अतएव इन तीनों दोषों का महत्त्व केवल लक्षण की परीक्षा में ही नहीं अपितु लक्षण के अभिधान में भी है, अर्थात् परिभाषा की परिभाषा में भी है।

न्याय-दर्शन ने लक्षण की परीक्षा में कुछ और दोषों के भी निवारण पर बल दिया है। ये दोष तर्क या अनिष्ट प्रसंग कहे जाते हैं। इनमें आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा प्रमाणबाधित आते हैं। आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय और चक्रक इन दोषों को परम्परागत पाश्चात्य तर्कशास्त्र में चक्रक दोष या सिद्ध-साधन दोष कहा गया है। इन सभी दोषों से लक्षण की परिभाषा (या परिभाषा की परिभाषा) मुक्त है, इसको प्रथम अध्याय में हम दिखा आये हैं। जैसे लक्षण की परिभाषा को इन दोषों से मुक्त किया गया है, वैसे ही किसी वस्तु के लक्षण को भी जब इन दोषों से मुक्त दिखाया जाता है तभी वह लक्षण शुद्ध होता है।

इनके अतिरिक्त चिन्न भट्ट केशव मिश्र की तर्कभाषा के ऊपर लिखी गयी अपनी टीका 'तर्कभाषा प्रकाशिका' में लिखते हैं कि लोक में जैसा शब्द-प्रयोग हो वैसा ही लक्षण किया जाना चाहिए। वैसा न करने पर अप्रसिद्धत्व दोष होता है।[२३] उनका तात्पर्य है कि जो लोक-प्रसिद्ध है उसका निराकरण लक्षण के द्वारा नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार कुल मिलाकर लक्षण दोष नौ हो जाते हैं जिनसे परिभाषा को बचाना चाहिए। संक्षेप में ये नौ दोष हैं—अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव, आत्माश्रय, चक्रक अन्योन्याश्रय, अनवस्था, प्रमाणबाधित और अप्रसिद्धत्व।

इन्हें लक्षणाभास कहा जाता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लक्षणाभास पूर्णतया अनुपयोगी और निरर्थक है। यहाँ भासर्वज्ञ कहते हैं कि कभी-कभी अतिव्याप्त और अव्याप्त लक्षण भी उपयोगी होते हैं क्योंकि वे अपने प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान करा देते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम अपनी गाय को अन्य गायों से उसकी सींग की विलक्षणता से पहचान सकते हैं तो विलक्षण सींग ... गाय कहना हमारी गाय का लक्षण बताना है यह लक्षण अतिव्याप्त

होते हुए भी विषय-बोधक है। इसी प्रकार जो क्रियावान् है वह द्रव्य है—द्रव्य की यह परिभाषा आकाश पर नहीं लागू होती है यद्यपि आकाश एक द्रव्य है। तथापि यह परिभाषा निरवद्य है, क्योंकि जो क्रियावान् है वह अवश्य ही द्रव्य है।[२४] इस प्रकार न्यायदर्शन का तात्पर्य है कि अतिव्याप्त और अव्याप्त परिभाषाएँ भी वैज्ञानिक ज्ञान के विकास में सहायक होती हैं, हुई हैं : शरीर चेष्टावान् है, आत्मा इच्छादि गुणवान् है आदि लक्षण अव्याप्ति दोष के उदाहरण हैं। किन्तु फिर भी इन लक्षणों से अध्यात्म-विद्या और शरीर-विज्ञान या औषधि विज्ञान का विकास हुआ है। इसी प्रकार देवदत्त का घर शाकवान् है यह लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है। फिर भी इससे देवदत्त के घर को अन्य व्यक्तियों के घर में पहचाना जाता है। इस प्रकार लक्षण-दोष वस्तुतः लक्षणाभास है और उनसे लक्ष्य का कुछ आभास होता है, किन्तु उनसे नितान्त निश्चित ज्ञान नहीं मिल सकता है।

वास्तव में यहाँ आकारिक तर्कशास्त्र तथा अनाकारिक तर्कशास्त्र का विचार प्रसंगानुकूल है। आकारिक तर्कशास्त्र के अनुसार लक्षण को अवश्य ही सभी दोषों से मुक्त होना चाहिए भले ही उस लक्षण का उपयोग बिलकुल न हो या उसका उपयोग किसी विज्ञान के विकास में न हो। परन्तु अनाकारिक तर्कशास्त्र के अनुसार ऐसा नहीं है। उसके अनुसार ऐसे लक्षण उपयोगी हैं जिनसे ज्ञानवर्धन होता है या किसी विज्ञान का विकास होता है भले ही वे नितान्त शुद्ध न हों। अतः न्यायदर्शन के लक्षण-सिद्धान्त में प्रायः अनाकारिक तर्कशास्त्र का पक्ष लिया गया है। जिन लौकिक न्यायों का प्रयोग सभी दर्शन और शास्त्र करते हैं वे अनाकारिक तर्कशास्त्र के नियम हैं।।

(४९) जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरीमें दिखलाया है कि उद्देश,लक्षण और परीक्षा में एक तार्किक क्रम है जिसको उन्होंने पौर्वापर्य (पूर्वापरभाव) कहा है। फिर उन्होंने लक्षण के दो प्रकार बताये हैं, सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण, और कहा है कि सामान्य लक्षण तथा विशेष लक्षण में पौर्वापर्य का नियम है[२५]। घट-व्यक्ति का लक्षण विशेष लक्षण है और घट-सामान्य का लक्षण सामान्य लक्षण है। यद्यपि जयन्त भट्ट ने लक्षणों के क्रम के सिद्धान्त को विकसित नहीं किया तथापि उनका ध्यान इस ओर गया था। किन्तु उनका मत ज्ञानमीमांसा-परक ही रह गया और वह तर्कशास्त्र में उपयोगी न हो सका। आधुनिक युग में इस क्रम-सिद्धान्त का बहुत विकास हुआ है और पूर्ववर्ती लक्षणों के माध्यम से परवर्ती लक्षणों को निरूपित किया गया है। जैसे गणित में परवर्ती प्रमेयों को पूर्ववर्ती प्रमेयों की सहायता से सिद्ध किया जाता है और पूर्ववर्ती प्रमेयों की सिद्धि में परवर्ती प्रमेयों का उपयोग नहीं किया जाता, वैसे लक्षण सिद्धान्त में भी पूर्ववर्ती और परवर्ती लक्षणों का क्रम स्वीकार कर लिया गया है। उदाहरण के लिए हम समुच्चय और निषेध की परिभाषा सत्यता सारिणी

के द्वारा करते है और इन्हे प्राथमिक परिभाषा कहते है। फिर इन दो परिभाषाओं की सहायता से हम आपादन की परिभाषा करते हैं। तत्पश्चात् हम 'समुच्चय और आपादन की सहायता से समतुल्यता की परिभाषा करते है, एवमादि। इस प्रकार आधुनिक तर्कगणित मे लक्षण-क्रम का जो विकास हुआ है वह जयन्त भट्ट की न्याय-मजरी मे नही दीख पडता है।

(५०) नव्य न्याय मे परिभाषा-सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है। उसने स्पष्टता और सम्यक्ता पर बल देते हुए प्राचीन न्याय-दर्शन के केवल एक पदार्थ अर्थात् प्रमाण का ही निर्वचन किया। इसलिए उसे शुद्ध प्रमाण-मीमासा या प्रमाण-शास्त्र कहा जाता है। शुद्धता, स्पष्टता और समीचीनता को प्राप्त करने के लिए उसने लक्षण का सहारा लिया और लक्षण करने की कई विधियो को जन्म दिया। इन विधियो का प्रभाव समग्र भारतीय दर्शन पर पड़ा है। नव्यन्याय और उसके इस प्रभाव की तुलना ठीक ही पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक विश्लेषणयुग से की जाती है[२६]। इन विधियों को परिष्कार-विधि कहा जाता है, क्योंकि इनसे परिभाषाओं का परिष्कार किया जाता है।

(५१) नव्य-न्याय ने वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों को मानते हुए निम्न-लिखित पन्द्रह और प्रत्ययो को मौलिक महत्त्व प्रदान किया है :—

१—२ अवच्छेदकता अवच्छिन्नता
३—४ विषयता — विषयिता
५—६ प्रतियोगिता — अनुयोगिता
७—८ प्रयोजकता — प्रयोज्यता
९—१० विशेषणता - विशेष्यता
(आधेयता-आधारता)
११—१२ कारणता — कार्यता
१३—१४ निरूपकता — निरूप्यता
१५ ससर्गता।

इस प्रकार नव्य न्याय का जगत् उपर्युक्त बाईस प्रत्ययो से (७ पदार्थ + १५ प्रत्यय) वैसे ही निर्मित है जैसे सगीत-शास्त्र का जगत् बाईस श्रुतियो से[२७]। इन प्रत्ययों की सहायता से नव्य-न्याय के दार्शनिकों ने सामान्यतः प्रत्येक कथन और सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है। लक्षण भी एक प्रकार का कथन होता और वह एक सिद्धान्त भी है। अत. उन्होने लक्षण का भी स्पष्टीकरण किया है उन्होंने लक्षण को एक स्वरूप कहा है किन्तु स्वरूप क्या है ?

(५१) स्वरूप-सम्बन्ध नव्य-न्याय की एक नयी उद्भावना है। वह मानता है कि स्वरूप-सम्बन्ध अपने सम्बन्धियो से भिन्न नही होता है। अतएव स्वरूप-सम्बन्ध के बारे में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि उसका क्या सम्बन्ध उसके सम्बन्धियों से है। इस प्रकार धर्मकीर्ति, शंकराचार्य और ब्रैडले आदि प्रत्ययवादी दार्शनिकगण सम्बन्ध या समवाय की कल्पना मे जो अनवस्था-दोष दिखाते है वह स्वरूप-सम्बन्ध में घटित नहीं होता है। फिर स्वरूप-सम्बन्ध पदार्थों की सख्या-वृद्धि को भी दूर करता है अर्थात् स्वरूप-सम्बन्ध जिन दो पदार्थों मे होता है उनके अतिरिक्त किसी तीसरे पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नही है। इस प्रकार स्वरूप-सम्बन्ध नव्य न्याय मे वही काम करता है जो काम ओखम का छूरा (Ockam's Razor) पाश्चात्य तर्कशास्त्र मे करता है। वह लाघव-न्याय है।

इस सम्बन्ध को मानते हुए नव्यन्याय ने माना कि लक्षण एक स्वरूप-सम्बन्ध है। इसलिए लक्षण का लक्षण और उस लक्षण का भी लक्षण आदि नही हो सकते। इस बात को भासर्वज्ञ ने सबसे पहले कहा था। उनका वचन यों है—

लक्षणलक्षणस्य सकललक्षणवर्गव्यवच्छेदकत्वेन स्वात्मनोऽपि व्यवच्छेदकत्वात्। यथा अनित्यः सर्वः शब्द इत्येतद्वाक्य स्वात्मनोऽप्यनित्यतामभिधत्ते[२८]।

अर्थात् लक्षण का लक्षण समस्त लक्षणो का व्यवच्छेदक होने के कारण स्वय अपना भी व्यवच्छेदक है। जैसे अनित्यः सर्व शब्द', यह वाक्य जहाँ सभी वाक्यों को अनित्य घोषित करता है वहाँ वह स्वय अपने को भी अनित्य घोषित करता है। इस प्रकार मिथ्यावादी का विरोधाभास (Liar's Paradox) जैसा विरोधाभास लक्षण के बारे में नही उठता है। अर्थात् लक्षण का विरोधाभास स्वरूपसम्बन्ध के कारण नही उठता है। या यों कहिये कि स्वरूप-सम्बन्ध की कल्पना लक्षण के विरोधाभास को दूर करती है।

(५३) स्वरूप-सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं—केवल स्वरूप और विशेषणता। पहला प्रतियोगिता-सम्बन्ध है या अनुयोगिता-सम्बन्ध है। प्रतियोगिता सम्बन्ध भी दो प्रकार का होता है—भावात्मक प्रतियोगिता सम्बन्ध और अभावात्मक प्रतियोगिता सम्बन्ध। पुनश्च विशेषणता-सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है—दैशिक विशेषणता, दिक्कृत विशेषणता और कालिक विशेषणता[२९]। कुछ लोग इसमें एक चौथी विशेषणता, अभावीय विशेषणता जोड़ते हैं[३०]। इन सभी सम्बन्धों को दृष्टि मे रखकर किसी पदार्थ का लक्षण किया जाता है। स्वय लक्षण का लक्षण भावात्मक प्रतियोगिता सम्बन्ध है। कुछ लोग उसे अनुयोगिता सम्बन्ध भी मानते हैं परन्तु मुख्यत उसे प्रतियोगिता सम्बन्ध ही माना जाता है

इस प्रकार स्वरूप-सम्बन्ध षट् पदार्थ (द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय, सामान्य और विशेष) से अतिरिक्त है। वह अभाव भी नहीं है क्योंकि अभाव को प्रतियोगिता सम्बन्ध के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अतः स्वरूप-सम्बन्ध नव्य न्याय की एक अत्यन्त मौलिक अवधारणा है। इस अवधारणा में प्रतियोगिता, अनुयोगिता और विशेषणता का उपयोग किया गया है। अतएव लक्षण करने में भी इन अवधारणाओं का उपयोग किया जाता है। विमलकृष्ण मतिलाल लिखते हैं कि स्वरूप-सम्बन्ध का न्याय वैशेषिक में प्रवेश हो जाने से उसका परम्परागत पदार्थ-सिद्धान्त नष्ट हो गया।[३१]

कारण, इससे वह अद्वैतवाद में परिणत हो गया और उसका पदार्थ-बहुलता का सिद्धान्त नष्ट हो गया। सभी पदार्थ स्वरूप सम्बन्ध के परिणाम के रूप में दिखाये जाने लगे।

(५८) अब यहाँ लक्षण करने की वे नयी विधियाँ दी जा सकती हैं जिनका प्रयोग नव्य-न्याय में आरम्भ हुआ है। यद्यपि ऐसी विधियाँ कई हैं तथापि हम केवल तीन को ही लेंगे अवच्छेदकत्व-विधि, प्रतियोगित्व-विधि और अनुगम— विधि।

अवच्छेदकत्व-विधि। नव्य-न्याय के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ व्यक्ति, आकृति और जाति होता है। व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थाः[३२]। जैसे यह घट है, यहाँ 'घट' शब्द का अर्थ तीन है (१) घट एक व्यक्ति विशेष है, (२) इसका अर्थ घट वस्तु का आकार है, (३) इसका अर्थ घट-सामान्य या घट-जाति है। अतः जब किसी शब्द का प्रयोग होता है तो यह जानने की आवश्यकता होती है कि उसका अर्थ क्या है। ऐसी जगह नव्य-न्याय अवच्छेदकत्व का प्रयोग करके घट-जाति का निर्धारण या निरूपण करता है। वह घट-व्यक्ति और घट-आकृति से घट-जाति को भिन्न करने के लिए घट-जाति का लक्षण घट-अवच्छेदक करता है।

घट-अवच्छेदक को घटत्व भी कहा जाता है। अर्थात् किसी शब्द में "त्व" लगाकर उसके अवच्छेदक को जाना जा सकता है। इस प्रकार गोत्व, वह्नित्व, धूमत्व आदि क्रमशः गो, वह्नि, धूम आदि के अवच्छेदक हैं। पुनश्च घट को घटत्व से अवच्छिन्न कहा जाता है अर्थात् घट घटत्व-अवच्छिन्न है। इस को पुनः विस्तृत करके घट-अवच्छेदकत्व-अवच्छिन्न-घट भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार जिस पद का लक्षण किया जाता है उसमें अवच्छेदक लगाकर उसके गुणार्थ (Connotation) को उसके वस्त्वर्थ (Denotation) से भिन्न किया जाता है। अवच्छेदकत्व-विधि पाश्चात्य तर्कशास्त्र की भाषा में गुणार्थक परिभाषा (Connotative Definition) है और वह वस्त्वर्थक परिभाषा (Denotative Definition या Ostensive Definition) से भिन्न है।

अवच्छेदकत्व को समझाने के लिए नव्यन्याय के दार्शनिकों ने उसकी व्याख्या चार प्रकार से की है[33] —

(१) अवच्छेदकत्व स्वरूप सम्बन्ध है।

(२) अवच्छेदकत्व अन्यूनवृत्तित्व है।

(३) अवच्छेदकत्व अनतिरिक्त-वृत्तित्व है।

(४) अवच्छेदकत्व अन्यून-अनतिरिक्तवृत्तित्व है।

रघुनाथ शिरोमणि जैसा कि विमलकृष्ण मतिलाल कहते है, प्रथम और चतुर्थ अर्थ में अवच्छेदकत्व का प्रयोग करते है। किन्तु गदाधर भट्टाचार्य मुख्यत चौथे अर्थ में अवच्छेदकत्व का प्रयोग करते है और वे अनतिरिक्त वृत्तित्व का अर्थ स्वव्यापकत्व करते है। प्रो० ई० बी० कावेल ने कहा है कि भेदकत्व, विशेषकत्व और निरूपकत्व अवच्छेदकत्व के अर्थ है।[34] किन्तु डा० दिनेश चन्द्र गुहा इस प्रसग मे ठीक ही कहते है कि प्रो० कावेल ने अवच्छेदकत्व का जो निर्वचन किया है वह यद्यपि सामान्यत प्रचलित है तथापि वह नितान्त शुद्ध नही है क्योंकि उसके और भी प्रकार के प्रयोग और उपयोग पाये जाते है।[35] प्राय अनतिरिक्त-वृत्तित्व के रूप मे अवच्छेदकत्व को लिया जाता है और उसको व्यावर्तकत्व, समानाधिकरण, स्वनिष्ठ अवच्छेद्यताकत्व —इन तीन सम्बन्धों से विशिष्ट कोई धर्म माना जाता है।[36]

इस प्रकार नव्यन्याय ने लक्षण की पुरानी परिभाषाओ को बदल दिया। लक्षण अब असाधारण धर्म या लक्ष्यतावच्छेदक-समनियतत्व नही रह गया। अब उसका लक्षण हो गया अवच्छेदकत्व या लक्ष्यतावच्छेदकत्व। यहा यह ध्यान देने की बात है कि अवच्छेदकत्व का अर्थ मात्र व्यावर्तक या व्यवच्छेदक (Differentiam) नही है। इसके अतिरिक्त वह स्वरूप-सम्बन्ध भी है। अतः जो तटस्थ लक्षण या उपलक्षण अद्वैत वेदान्त मे दिये जाते है वे वस्तुत लक्षण नही है। केवल स्वरूपलक्षण ही लक्षण है। अन्य लक्षण परम्परया स्वरूपलक्षण पर निर्भर होते है।

अवच्छेदकत्व-विधि के द्वारा प्रत्येक विषय, सम्बन्ध या पदार्थ की परिभाषा की जा सकती है। अत कोई पद अनिर्वचनीय नही है। इस विधि का उपयोग हम शुभम् (Good) की परिभाषा के लिये भी कर सकते है और शुभता-अवच्छेदकत्व का अनुसधान कर सकते है। प्रो० जी० ई० मूर ने शुभम् या श्रेयस की परिभाषा मे जो प्रकृतिवादी दोष बतलाया है वह शुभता-अवच्छेदकत्व मे लागू नहीं होता। पुनश्च यदि कहा जाय कि शुभता-अवच्छेदकत्व मे आत्माश्रय दोष है और इस कारण यह परिभाषा दूषित है तो इसके उत्तर मे कहा जायगा कि शुभता-अवच्छेदकत्व एक धर्म या गुण Property है जो शुभम् मे रहता है इसलिए शुभम् पद धर्मी है

और शुभता-अवच्छेदकत्व उसका धर्म है। अत अवच्छेदकत्व-विधि से शुभम् की परिभाषा में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। पुनश्च-शुभता-अवच्छेदकत्व मे तत्पुरुष समास है जिसमे उत्तरपद प्रधान होता है और इस कारण अवच्छेदकत्व की प्रधानता है, न कि शुभ पद की। अतएव शुभम् शुभताअवच्छेदकत्वावच्छिन्न है, यह परिभाषा निर्दोष है। यह उल्लेखनीय है कि अवच्छेदकत्व गुण का ज्ञान विभिन्न प्रमाणों से विभिन्न परिस्थितियो में पृथक्-पृथक् होता है। अर्थात् अवच्छेदकत्व एक चर है और किसी विशेष परिभाषा में उसके स्थान पर कोई व्यक्ति रखा जाता है। जैसे 'य' एक मनुष्य है, इस वाक्याकार मे "य' के स्थान पर राम, श्याम, मोहन, शकर आदि रखकर हम यथार्थ वाक्य प्राप्त कर सकते है। वैसे अवच्छेदकत्व को भी हम य' समझ सकते हैं। इस प्रकार 'य' 'र' का अवच्छेदकत्व है, इस कथन मे 'य और र' के स्थान पर किसी प्रमाण से लभ्य कोई धर्म रखकर हम उस धर्मी का लक्षण प्राप्त कर सकते है। उदाहरण के लिए, य' के स्थान पर गन्धवत्व और 'र' के स्थान पर पृथ्वी रखकर हम पृथ्वी का लक्षण कर सकते है कि गन्धवत्व पृथ्वी का अवच्छेदकत्व है। यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि अवच्छेदकत्व का अनुसधान व्याप्ति-ग्राहको द्वारा अर्थात् आगमन-विधि द्वारा किया जाता है।

(५५) प्रतियोगित्व विधि। प्रतियोगिता का स्पष्ट अर्थ प्रतियोगितावच्छेदकत्व है। इस प्रकार अवच्छेदकत्व-विधि प्रतियोगिता-विधि से अधिक मूलगामी है। किन्तु प्रतियोगिता भी एक स्वरूप-सम्बन्ध है। उसके द्वारा अभाव और ससर्ग की परिभाषा की जाती है। रघुनाथ शिरोमणि ने उसका उपयोग करते हुए अभाव को प्रतियोगि-व्यधिकरण कहा है।[२७] प्रतियोगिता का उपयोग करते हुए चित्सुख ने मिथ्यात्व की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

"स्वाश्रयनिष्ठ—अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व मिथ्यात्वम्।"

अर्थात् "मिथ्यात्व स्वाश्रय-निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है"।[२८] वास्तव में प्रतियोगिता-संबन्ध नव्यन्याय की भाषा का परिचायक है। जैसे अरस्तू के तर्कशास्त्र की भाषा उद्देश्य-विधेय की भाषा है वैसे नव्यन्याय की भाषा प्रतियोगिता-अनुयोगिता की भाषा है। 'स्ट्रासन' ने जिसे गुण-अधिष्ठान भाष (Property Location Language) कहा है उसका पूर्ण निदर्शन नव्य-न्याय की भाषा है। यहाँ गुण या धर्म को प्रतियोगी कहा जाता है और अधिष्ठान को अनुयोगी। इस प्रकार आधार अनुयोगी है और आधेय प्रतियोगी। प्रत्येक गुण या धर्म किसी गुणी या या धर्मी में होता है। अतएव उसकी परिभाषा उसके धर्मी के संदर्भ में ही दी जाती है। प्रतियोगिता की विधि के द्वारा सभी सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या की जा सकती है।

(५६) अनुगम-विधि। अनुगम-विधि अनुगत गुण का अनुसंधान करती है। इस विधि का उपयोग करते हुए गंगेश उपाध्याय ने व्याप्ति की परिभाषा अनौपाधिकत्व की है। अनौपाधिकत्व व्याप्ति है, क्योंकि व्याप्ति की जितनी परिभाषाएँ उन्होंने की हैं अनौपाधिकत्व उन सब में वैसे ही अनुगत है जैसे सभी घटों में घटत्व। इस प्रकार अनुगत रूप से सर्व-संग्रह किया जाता है। अनुगम का अर्थ है सबगत गुणार्थ (Common Connotation)।

इस प्रकार सर्वगत या व्यापक से व्यापकतर गुण का अनुसंधान करने की रीति अनुगम-विधि है। शंकराचार्य जब आत्मा की परिभाषा देते हैं तब वे भी अनुगम-विधि का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं यद्-व्यतिरेकेण यस्य अग्रहणं तदात्मत्वम् और आत्मव्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्। यदि 'य' के बिना 'र' का ग्रहण न हो सके तो 'य' 'र' की आत्मा है। इस रीति से आत्मा के बिना किसी का ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिए आत्मा सबकी आत्मा है। इस प्रकार अनुगम-विधि के द्वारा आत्मा का लक्षण किया गया है।

(५७) नव्य-न्याय ने जो परिभाषाएँ दी हैं वे स्पष्टता के मानदण्ड हैं। ऐसी परिभाषाओं को देना परिष्कार कहा जाता है। ये परिभाषाएँ परिष्कृत लक्षण हैं। परिष्कार का यहाँ वही अर्थ है जो समकालीन दर्शन में विश्लेषण का है, क्योंकि परिष्कार-वाक्य या लक्षण-वाक्य परिभाषा के अर्थों को पोर-पोर कर रखता है।

उदाहरण के लिए (१) पर्वत वह्निमान है- इस वाक्य को लीजिए। नव्य-न्याय में इसको निम्नलिखित रूप में लिया जायगा—

(२) पर्वत मे वह्नि है।

अब (२) का अर्थ निम्नलिखित होगा।

(३) वह्नित्वाच्छेदकत्व से अवच्छिन्न पर्वत।

और अधिक स्पष्ट करने पर यह होगा—

(४) वह्नित्व-विषयता-निरूपित-प्रतियोगिता-अवच्छेदकत्व से अवच्छिन्न पर्वत, क्योंकि वह्नि विषयता है जो पर्वत का प्रतियोगी है और पर्वत अनुयोगी है। आपाततः यह प्रक्रिया निरर्थक प्रतीत होती है और एक सरल कथन को और भी दुरूह बनाती है। किन्तु यथार्थतः ऐसा नहीं है। अवच्छेदकत्व, प्रतियोगिता, आदि शब्दों का प्रयोग अर्थ के परिष्कार में सहायक है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो वाक्यों को लिया जा सकता है—

(१) पर्वत में वह्नि है।

(२) पर्वत में वह्नि नहीं है।

ये दोनों वाक्य परस्पर व्याघातक लगते हैं। किन्तु परिष्कार करने पर इनमें कोई विरोध नहीं दीख पड़ता है और विरोध की शंका ही दूर हो जाती है। इसका परिष्कार निम्न है :

(३) नितम्बावच्छेदकत्व से पर्वत में वह्नि है।

(४) शिखरावच्छेदकत्व से पर्वत में वह्नि नहीं है

(३) और (४) परस्पर व्याघातक नहीं है। स्पष्टतः देशावच्छेदकत्व का सहारा लेकर नव्य-न्याय ने उपर्युक्त विरोधाभास को दूर किया है। यहां अवच्छेदकत्व आधुनिक तर्कशास्त्र में परिमाणक (Quantification) का काम करता है।

पुनश्च (३) और (४) को क्रमशः यों भी लिखा जा सकता है —

(५) नितम्बावच्छिन्न पर्वत वह्निमान् है।

(६) शिखरावच्छिन्न पर्वत वह्निमान् नहीं है।

इसी प्रकार निम्नलिखित दो वाक्यों को लीजिए :—

(१) पर्वत में वह्नि है।

(२) तिल में तेल है।

इन दोनों वाक्यों की रचना एक-जैसी है। इसलिए भ्रम पैदा होता है कि तिल-तेल सम्बन्ध और पर्वत वह्नि सम्बन्ध एक ही प्रकार का है। किन्तु पर्वत-वह्नि सबन्ध संयोग सम्बन्ध है और वह ऐकदेशिक है तथा तिल तेल सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है और वह सार्वदेशिक है। तात्पर्य यह है कि तैलवत्त्व तिल व्याप्त-वृत्ति धर्म है और वह्निमत्त्व पर्वत का अव्याप्यवृत्ति धर्म है। नव्य-न्याय में उपर्युक्त दो वाक्यों को निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है :—

(३) एकदेशावच्छेदकत्व से पर्वत में वह्नि है।

(४) कृत्स्न देशावच्छेदकत्व से तिल में तेल है।

यहां (१) और (२) वाक्यों में जो भ्रान्त ज्ञान है वह दूर हो गया है। अथवा (३) और (४) को सम्बन्धावच्छेदकत्व लगाकर निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

(५) संयोगसम्बन्धावच्छेदकत्व से पर्वत में वह्नि है।

(६) समवायसम्बन्धावच्छेदकत्व से तिल में तेल है।

यहां भी दोनों वाक्यों के अर्थ में कोई घपला या संकर नहीं है। इस प्रकार अवच्छेदकत्व-प्रयोग के द्वारा असंकर-रूप में अर्थ का निश्चय किया जाता है। इससे अवच्छेदकत्व के द्वारा अर्थ का परिष्कार होता है। परिष्कार-दर्पण में वेणीमाधव शुक्ल लिखते हैं 'अवच्छेदकतावैलक्षण्यमेव तद्वैलक्षण्यं साधयेत्।'[४०] अर्थात् अवच्छेदकत्व के भेद से ही अवच्छिन्न या अवच्छेद्य में भेद होता है। तिल-तेल सम्बन्ध और पर्वत-वह्नि सम्बन्ध में भेद इसलिये है कि इन दोनों सम्बन्धों के अवच्छेदकत्व में भेद है। यदि अवच्छेदकत्व को न माना जाय तो फिर इन दोनों सम्बन्धों में भेद करना असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार प्रतियोगित्व भी विषयों के भेद को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है[४१]

(५८) नव्य-न्याय की परिष्कार-विधि मे अवच्छेदक, अवच्छिन्न आदि जिन पन्द्रह सम्प्रत्ययों का उल्लेख ऊपर किया गया है वे शुद्ध तार्किक पदार्थ है। सामान्यतः उनका आधार (अधिष्ठान) वैशेषिक के सात पदार्थ है। किन्तु उन सम्प्रत्ययों की ऐसी भी व्याख्या की जा सकती है जिसमे उनका आधार वैशेषिक के सात पदार्थ नही रह जाते है। ऐसी एक व्याख्या रघुनाथ शिरोमणि ने पदार्थ तत्त्वनिरूपण में की है और उन्होने वैशेषिक के सात पदार्थो के स्थान पर और अधिक पदार्थ माने है। पुनश्च स्वरूप सम्बन्ध की मान्यता ने वैशेषिक पदार्थों की अनेकता का खण्डन कर दिया है। इसको विमलकृष्ण मतिलाल ने स्पष्ट किया है।[62] वास्तव मे मधुसूदन सरस्वती जैसे अद्वैतवादियो ने इसका उपयोग करके नव्य-न्याय की तत्त्वमीमासा का खण्डन किया है और अद्वैत वेदान्त को सुस्पष्ट किया है। परन्तु काव्यशास्त्री पण्डितराज जगन्नाथ ने नव्य-न्याय की शैली का उपयोग करते हुए भी अद्वैत-वेदान्त का खण्डन किया है। अतः नव्य-न्याय की परिष्कार-विधि वस्तुतः किसी विशेष तत्त्वमीमासा से अनिवार्यतः सम्बन्धित नही है। यह एक विश्लेषण-पद्धति है जिसका उपयोग द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनो ने किया है। अतः डा० विमलकृष्ण मतिलाल का उपर्युक्त कथन ऐतिहासिक साक्ष्य और परिष्कार-रीति द्वारा समर्थित नही है। वे स्वय मानते है कि नव्य-न्याय की परिष्कार-विधि स्वतः शोध प्रणाली (Heuristic) है।[63] यही कारण है कि इस विधि का प्रयोग मीमासक, वेदान्ती, वैयाकरण और काव्यशास्त्रियो ने वैसे ही किया जैसे नव्य-नैयायिकों ने।

(५९) परिष्कार-विधि ने लक्षण-परीक्षा को भी एक नया आयाम दिया है। इसके पूर्व लक्षण को केवल अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असभव इन तीन दोषो से रहित दिखाया जाता था और ऐसा करने की विधि लक्षण-वाक्य का विश्लेषण था। मान लीजिए, एक लक्षण-वाक्य निम्नलिखित है—

(१) ह (क, ख, ग, घ), जिसमें क, ख, ग और घ विभिन्न पद है। यहाँ परीक्षा मे यह दिखाया जाता है कि 'क' का उपादान या निवेश इसलिए है कि किसी अतिव्याप्ति का वारण हो जाय। 'ख' का निवेश इसलिए है कि किसी अव्याप्ति का वारण हो जाय तथा 'ग' का निवेश इसलिए है कि किसी असभव दोष का वारण हो जाय। कभी कभी दो या तीन पदो के अतिरिक्त भी लक्षण वाक्य मे ऐसे पद होते है जिनको उपर्युक्त लक्षण वाक्य मे 'घ' कहा गया है। यदि 'घ' का अनुपादान होता तो लक्षण मे कोई अन्य दोष भी आ सकता है। ऐसा कहकर 'घ' के निवेश को भी सार्थक बनाया जाता है। यदि लक्षण वाक्य मे कोई और दोष हो तो उसका परिहार करने के लिये किसी नये पद 'च' का निवेश भी किया जा सकता है और तब उपर्युक्त लक्षण वाक्य निम्नलिखित बन जायेगा

(२) ह (क, ख, ग, घ, च)। यदि लक्षण-वाक्य में कोई पद निरर्थक होता है तो उसका अनुपादान कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि लक्षण-वाक्य मे 'घ' निरर्थक है तो शुद्ध लक्षण वाक्य निम्नलिखित होगा—

(३) ह (क, ख, ग)।

संक्षेप मे परिष्कार-विधि के पूर्व लक्षण-परीक्षा की यही आकार- योजना थी। किन्तु परिष्कार-विधि से यह स्पष्ट किया जाता है कि क, ख, ग, घ और च किस प्रकार के पद है ? उनमे किस प्रकार का सम्बन्ध है। ऐसा करके परिष्कार विधि लक्षणवाक्य की सरचना के आकार को उद्घाटित करती है जो अर्थ को स्पष्ट करने मे सहायक है।

(६०) नव्य-न्याय की परिभाषा-विधि का वर्णन करते हुए डा० डेनियल हेनरी होम इंगल्स ठीक ही कहते हैं कि वह विधि किसी लक्षण की व्याख्या करती है और ऐसा करने के लिए वह अनेक आपत्तिया उठाती है। प्रत्येक आपत्ति लक्षण मे कोई दोष दिखाती है और ऐसा करने के बाद पुनः यह विधि आपत्तियो का निराकरण करती है और लक्षण की सत्यता को सिद्ध करती है। यदि लक्षण मे कोई दोष रहता है तो उस दोष का वारण या निवारण करने के लिए वह लक्षण में किसी पद का निवेश करती है और इस प्रकार परिभाषा के किसी पद या पदगत सम्बन्ध को विशेषित करती है।[४५]

इस विधि के द्वारा कुछ नव्य-नैयायिकों ने पदार्थ की नयी नयी मीमांसा भी की है। लक्षण से विषय जाने जाते है। इसलिए पदार्थों का परिष्कृत लक्षण करके रघुनाथ शिरोमणि ने वैशेषिक के सात पदार्थों का खण्डन किया है और सख्या, शक्ति, क्षण, कारणत्व, कार्यत्व आदि नये पदार्थों को प्रस्तावित किया है।[४६] परन्तु उनकी पदार्थ-मीमांसा की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी और वैशषिक के सात पदार्थों की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण चली जा रही है।

नव्य-न्याय की परिष्कार-विधि का विशेष प्रभाव काव्य-शास्त्र पर पड़ा है। इसका उपयोग करते हुए काव्य-शास्त्रियों ने काव्य तथा रस, गुण, अलङ्कार आदि का परिष्कृत लक्षण देने का प्रयास किया है।

(६१) लक्षण-वाक्य का परिष्कार सभी अन्य वाक्यों के परिष्कार का आदर्श है। परिष्कार-विधि मे प्रत्येक वाक्य का अर्थ स्पष्ट किया जाता है। उदाहरण के लिए—

(१) घडा नही है।

(२) नीला घड़ा नही है।

इन दोनों वाक्यों का अर्थ भी परिष्कार-विधि के द्वारा स्पष्ट होता है। यहाँ जो अर्थ है वह निम्नलिखित है—

(१) विशेष्यता के दृष्टिकोण से उपर्युक्त दोनों वाक्यों का अर्थ एक ही है और दोनों वाक्यों मे तादात्म्य सम्बन्ध है। अर्थात घड़ा = नीला घड़ा, क्योंकि विशेष्यता दोनो पदों की एक ही है

(२) विशेषणता की दृष्टिकोण से दूसरे वाक्य का अर्थ पहले वाक्य से भिन्न है क्योंकि दूसरे वाक्य में घड़े का विशेषण नील है और पहले वाक्य में घड़े का कोई विशेषण नही है।

(३) पहला वाक्य सामान्य घट के अभाव को बताता है और दूसरा वाक्य विशेष घट के अभाव को। इसलिए पहले वाक्य का अर्थ सामान्याभाव है और दूसरे वाक्य का अर्थ विशेषाभाव है।

(४) पहले वाक्य के अर्थ में केवल अभावीय प्रतियोगिता का प्रयोग है। उसका अर्थ है घटाभाव-प्रतियोगित्व-निरूपित भूतल। किन्तु दूसरे वाक्य मे अभावीय प्रतियोगिता के अतिरिक्त विशेषणता का भी प्रयोग है। उसका अर्थ है—नीलत्वा-च्छेदक विशेषणता-प्रकारक-घटाभाव-प्रतियोगिता-अवच्छेदकत्व-अवच्छिन्न भूतल।

इस प्रकार परिष्कार-विधि के द्वारा उपर्युक्त दोनो वाक्यों का अर्थ जैसा है वैसा स्पष्ट कर दिया जाता है और तब इन दोनो वाक्यो के अर्थों के प्रति कोई शका नहीं रह जाती है। जैसे विट्गेन्स्टाइन कहते हैं कि दार्शनिक समस्या का अर्थ स्पष्ट कर देने से दार्शनिक समस्या अपने-आप समाप्त हो जाती है, वैसे ही नव्य-न्याय मे कहा जाता है कि दार्शनिक कथन या सिद्धान्त का परिष्कार करने से तत्सम्बंधित समस्या का समाधान हो जाता है और कोई शका या आपत्ति शेष नही रह जाती हैं। अतः विट्गेन्स्टाइन की दार्शनिक विधि और नव्य-न्याय की दार्शनिक विधि मे स्पष्टीकरण को लेकर पर्याप्त साम्य है। दोनों विधियाँ वर्णन की विशदता और यथार्थता पर बल देती है।

संदर्भ और टिप्पणी

1. **The Paribhasa In the Srautra Sutras,**

   Samiran Chandra Chakrabarti, Sanskrit Pustak Bhandar, Delhi, 1980, P. 78

   "Credit goes to Bharadwaja for formulating a set of paribhasas for the first time."

2. देखिये वही पृष्ठ —85। His work thus represents the latest development of the paribhasas in the Srauta Sutras."

यद्यपि डी० वी० जार्ज मानते है कि जैमिनि कात्यायन के अनुवर्ती हैं, दे० Citations in Sabara Bhasya, Daccan College, Dissertation Series

No. 8, पुना १९५२, पृ० ५३-५४। तथापि समीरण चन्द्र चक्रवर्ती ने उसके मत का खण्डन करके सिद्ध किया है कि जैमिनि का मीमांसा-सूत्र सभी श्रौत-सूत्रों के

बाद का है और जैमिनि ने कात्यायन श्रौत सूत्रों की कुछ परिभाषाओं का परिष्कार करने का प्रयास किया। दे० उनका ऊपर उद्धृत ग्रन्थ पृ० १११।

३ काशिका वृत्ति, पाणिनि कृत अष्टाध्यायी ३३ १०३ नीयन्त अनेन इति न्यायः।

४ दे० समीरण चन्द्र चक्रवर्ती, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ पृ० ३१।

५ आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २४ ३ १४।

६ वही २४ १ २४।

७ दे० न्यायकोश, भीमाचार्य झलकीकर, पूना १९२८, पृ० १ २१।

८ परिभाषेन्दुशेखर, नागोजी भट्ट, हिन्दी व्याख्या सहित हिन्दी व्याख्याकार श्री नारायण मिश्र, चौखम्भा, वाराणसी, १९८१ पृ० १०० और पृ० १६६।

९ वहीं पृ० ४२१।

१० जैमिनि श्रौत सूत्र १ २६ पर भवत्रात की वृत्ति।

११ शिशुपालवध, माघ, १६/८०।

१२ व्याकरण महाभाष्य पतञ्जलि, २ १ १।

१३ नागोजी भट्ट का उद्योत २ १ १।

१४ दे० शिशुपालवध १६/८० पर मल्लिनाथ की टीका।

१५ परिभाषेन्दु शेखर पर भैरव मिश्र की टीका का आरम्भिक कथन।

१६ दे० परिभाषेन्दु शेखर हिन्दी व्याख्या जो ऊपर उद्धृत है, प्रस्तावना पृ० १२ – १३।

१७ परिभाषेन्दु शेखर, परिभाषा एक।

१८ वात्स्यायन न्यायभाष्य १—१।

१९ वही १ —२।

20 Of these Asambhava is only a kind of Avyāpti in excelisis Tarka Sangraha of Annambhatta, अथल्ये और बोडास, द्वितीय संस्करण, पूना, १९७४, नोट्स पृ० ५१।

21 A Modern Introduction to Logic, Dr S S Barlingay, 2nd etition, National Publishing House, New Delhi, p 68

22 दे० न्यायकोश भीमाचार्य झलकीकर, पृ० 697।

23 तर्कभाषा, तर्कभाषा-प्रकाशिका-सहित पूना, 1937 पृ० 152
लोके यथा व्यवहारस्तथैव लक्षण कर्तव्य नान्यथा, तदुक्तम्
सिद्धानुगममात्र हि कर्तु युक्त परीक्षकैः।
न सर्वलोकसिद्धस्य लक्षणेन निवर्तनम्॥

24 न्यायभूषण, भासर्वज्ञ, स०योगीन्द्रानंद, पृ० 8 ।

25 जयन्तभट्ट, न्यायमंजरी, संपादक, सूर्यनारायण शुक्ल चौखम्भा वाराणसी, 1971, पृ० ॥

26 **The Navya Nyāya Doctrine of Negation**, B K Matilal, Harvard University Press, 1968—
"The Influence of this aspect of Navya Nyāya upon other philosophical school of India can easily be shown In this respect Navya-Nyāya may be said to resemble at least in spirit, the age of analysis in the Western tradition"

27 दे० **Navya Nyāya System of Logic**, डा० सी० गुहा, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 197‹, पृ० 15-16 में उद्धृत राजेश्वर शास्त्री की पुस्तक अवच्छेदकतादिविमर्श का अंश ।

28 न्यायभूषण भासर्वज्ञ संपादक, योगीन्द्रानंद पृ० 9 ।

29 दे० न्यायकोश पृ० 1057 ।

30 बी० के० मतिलाल उपर्युक्त ग्रन्थ पृ० 40 ।

31 वही पृ० 44 ।

32 दे० न्यायसूत्र 2 2 3 ।

33 दे० डी० सी० गुहा का उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 27 और विमल कृष्ण मतिलाल का उद्धृत ग्रन्थ पृ० 76 ।

34 The term Avachhedaka has at least three meanings as distinguishing particularising and determining.

(A) In the phrase—"a blue lotus," blue is the distinguishing avachhedaka (i e viśesana) of the lotus, it distinguishes it from others of different colours

(B) In the sentence "the bird sits on the tree, on the branch, वृक्षे शाखायां पक्षी 'Sākh y m particularises the exact spot for this is the ekadeśāvachhedaka

(C) But the third is the usual Naiyayika use of the word i e, as determining (Niyamaka) wherever we find a relation which is not itself, included in any one of the seven categories but is common to several, we require something to determine its different varieties thus if we say that fire

the cause of smoke or vice versa, smoke the effect of fire, we do not mean only *this particular cause but any* fire or smoke. We therefore require to determine this particular relation of causality, something which shall be always found present with it.

न्यायकुसुमांजलि, उदयनाचार्य, अंग्रेजी अनुवाद, ई० बी० कावेल, प्रथम संस्करण १८६४, पुनर्मुद्रण दिल्ली १९८० पृ० २६।

३५ दे० डा० दिनेश चन्द्र गुहा, उद्धृत ग्रन्थ पृ० ३१।

३६ न्यायकोश पृ० ६३।

३७ अवच्छेदकत्व-निरुक्ति, गादाधारी, चौखम्भा, वाराणसी, पृ० ५०९—
अभावश्च प्रतियोगिन्यधिकरणो बोध्य।

३८ दे० अद्वैतसिद्धिः हिन्दी अनुवाद सहित, योगीन्दानन्द, वाराणसी, १९७७ पृ० ४१।

३९ दे० दिनेशचन्द्र गुहा का उद्धृत ग्रन्थ पृ० २८१।

४० परिष्कार-दर्पण, वेणीमाधव शुक्ल, चौखम्भा, वाराणसी, पृ० १५।

४१. वही पृष्ठ १३।

४२ It may sound paradoxical, but it seems to me that the introduction of Svarūpa relation into the Nyaya-Vaiseṣika system is a *little like the proverbial camel's head under the* tent (one might call it, facetiously a Vedantin's head) : carried to its logical conclusion, the doctrine destroys the traditional system of caetgories. विमल कृष्ण मतिलाल का उद्धृत ग्रंथ पृ० ४४१।

४३ वही पृ० ५८। This may be taken as a heuristic device that awaits further explanation.

४४. Materials for the Study of Navya-Nyaya Logic, D. H H. Ingalls, Harvard Oriental Series और दे० परिष्कार-भाषा, केदार नाथ ओझा, विद्याविजयन्ती निबन्ध माला, प्रथम भाग, काशी, १९७८ में सम्मिलित पृ० ३०९—३१८।

४५. वही० पृ० ३९।

5

परम्परागत पाश्चात्य परिभाषा–सिद्धान्त

(६२) परम्परागत पाश्चात्य परिभाषा-सिद्धान्त का मूल उत्स अरस्तू का परिभाषा-सिद्धान्त है। अरस्तू के अनुसार परिभाषा एक वाच्य-धर्म (Predicable) है जो अन्य वाच्य धर्मों से भिन्न है। अन्य वाच्य धर्म गुण (Property), जाति (Genus) और आकस्मिक गुण (Accident) हैं। अरस्तू के इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि परिभाषा स्वरूप या लक्षण (Essence) को अभिव्यक्त करती है। उसने लक्षण और परिभाषा में कोई अन्तर नहीं किया।

(६३) अरस्तू के अनुसार परिभाष्य कोई वस्तु होता है, जिसका अपना निजी स्वरूप या लक्षण होता है। वह स्वरूप ही उस वस्तु का वस्तुत्व है। इस प्रकार वस्तुत्व और स्वरूप परस्पर परिवर्तनीय है। अरस्तू ने वस्तु के इस स्वरूप की अभिव्यक्ति को परिभाषा कहा है। उसने स्वरूप को एक ओर वस्तु के अनिवार्य तथा आकस्मिक गुणों से भिन्न किया तो दूसरी ओर उसे वस्तु की जाति से भी भिन्न किया। यह उल्लेखनीय है कि उसने वस्तुओं के स्वरूप को उसके अनिवार्य गुणों से भिन्न किया। स्वरूप प्रदत्त या अभ्युगमित होता है। गुण निष्पन्न, व्युत्पादित या निष्कर्षित होता है। इस प्रकार स्वरूप और गुण का भेद करके अरस्तू ने वैज्ञानिक ज्ञान की खोज का मार्ग प्रशस्त किया। इसके फलस्वरूप प्रत्येक वस्तु के गुणों का अनुसन्धान आरम्भ हुआ जिससे विज्ञान का उद्भव और विकास हुआ।

(६४) अरस्तू के वाच्यधर्म-सिद्धान्त को पार्फरी ने विकसित किया। उसने परिभाषा के स्थान पर दो और वाच्य धर्म माने जिन्हें उपजाति (Species) और व्यवच्छेदक (Differentia) कहा गया। इस प्रकार परिभाषा को जाति तथा व्यवच्छेदक की अभिव्यक्ति कहा गया। उदाहरण के लिए, पृथ्वी गन्धवती है, यहाँ गन्ध को पृथ्वी का व्यवच्छेदक गुण (असाधारण धर्म) कहा गया है। अतः यह पृथ्वी की परिभाषा है। फिर इसी को विस्तार से कहा जा सकता है कि पृथ्वी वह महाभूत है जिसका अनिवार्य गुण गन्ध है, तो यह स्पष्टतः जाति और व्यवच्छेदक का कथन करती है।

यदि पार्फरी के वाच्यधर्म-सिद्धान्त को न माना जाय तो भी अरस्तू के अनुसार परिभाषा का वही लक्षण सिद्ध होता है। परिभाषा इस अर्थ में कोई यादृच्छिक भाषा-व्यापार नहीं है। यह वस्तुओं के स्वरूप से ही निर्धारित होती है, क्योंकि

परिभाषा वस्तुओं के स्वरूप का कथन है[1]। इस दृष्टि से परिभाषा वैज्ञानिक अनुसंधान की अंतिम परिणति है[2]। वैज्ञानिक किसी वस्तु विशेष के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है और जब वह अपने यथार्थ ज्ञान को अभिव्यक्त करता है तब वह उस वस्तु की वास्तव मे परिभाषा देता है। इस प्रकार परिभाषा वैज्ञानिक अनुसधान के आरम्भ मे नही किन्तु अन्त मे प्रकट होती है। समस्त वैज्ञानिक ज्ञान परिभाषा के अन्तर्गत है।

(६५) परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त को जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा सिद्धान्त कहा जाता है। यच० डब्लू० बी० जोसेफ ने इसके नियमो की सबसे अधिक सन्तोषप्रद व्याख्या की है। उनके अनुसार परिभाषा के ६ नियम है जो निम्नलिखित है[3]—

(१) लक्षण को लक्ष्य का तत्त्व देना चाहिए।

(२) लक्षण को लक्ष्य की जाति और या व्यवच्छेदक बताना चाहिए।

(३) लक्षण को लक्ष्य के समरूप होना चाहिए।

(४) लक्षण को लक्ष्य वस्तु को उसके द्वारा ही साक्षात् या परम्परया नहीं परिभाषित करना चाहिए।

(५) जहाँ स्वीकारात्मक लक्षण सभव हो वहाँ लक्षण को निषेधात्मक नहीं होना चाहिए।

(६) लक्षण को अस्पष्ट या अलकारिक भाषा मे नही होना चाहिए।

पुन: प्रो० इरविंग यम० कोपी ने इन नियमो मे से प्रथम दो को एक नियम मान लिया है और इस प्रकार उन्होंने जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा के निम्नलिखित पाँच नियम बताए है :—

(१) लक्षण को लक्ष्य की उपजाति के तात्विक गुणो को बताना चाहिए।

(२) लक्षण को चक्रक नही होना चाहिए।

(३) लक्षण को अतिव्याप्त या अव्याप्त नहीं होना चाहिए।

(४) लक्षण को अनेकार्थक अस्पष्ट और अलकारिक भाषा मे अभिव्यक्त नही करना चाहिए।

(५) जहाँ लक्षण स्वीकारात्मक हो सके वहाँ उसे निषेधात्मक नही होना चाहिए[4]।

पुनश्च कुमारी एल० एस० स्टेबिंग ने जोसेफ द्वारा निर्धारित प्रथम तीन नियमोंको एक ही नियम कहा है और माना है कि वास्तव मे तीसरा नियम

आवश्यक है और प्रथम दो नियम अनावश्यक है[५]। इस प्रकार उन्होंने परिभाषा के निम्नलिखित चार नियम माने—

(१) लक्षण को लक्ष्य के समरूप होना चाहिए।

(२) लक्षण मे वह पद नही होना चाहिए जो लक्ष्य मे हो।

(३) लक्षण को अस्पष्ट या अलकारिक भाषा मे नही होना चाहिए।

(४) यदि लक्ष्य निषेधात्मक नही है तो लक्षण को निषेधात्मक नही होना चाहिए।

स्टेबिंग द्वारा निरूपित परिभाषा के इन चार नियमो को आधुनिक तर्कशास्त्रियो ने स्वीकार कर लिया है। उदाहरण के लिए, रिचर्ड राबिन्सन और पैट्रिक सुप्पीज ने इन्ही चार नियमों को परम्परागत परिभाषा के नियम माने है[६]। सुप्पीज के अनुसार—(१) लक्ष्य का स्वरूप बताना, (२) चक्रक न होना, (३) निषेधात्मक न होना और (४) अस्पष्ट तथा अलकारिक न होना परिभाषा के चार नियम है।

(६६) परिभाषा के इन नियमो से स्पष्ट है कि अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, चक्रक, निषेधात्मक अभिव्यक्ति, अस्पष्ट अभिव्यक्ति और अलकारिक अभिव्यक्ति परिभाषा के दोष है और परिभाषा को इन दोषो से मुक्त होना चाहिए। किन्तु इन दोषों पर काफी विवाद है। एक मत है कि प्रत्येक परिभाषा मे इनमे से कोई-न-कोई दोष कुछ-न-कुछ मात्रा मे अवश्य रहता है। दूसरा मत है कि परिभाषा इन सभी दोषों से मुक्त हो सकती हैं। इन दोनों मतों मे दूसरा मत आदर्श है और पहला मत व्यवहारिक या यथार्थ है। उदाहरण के लिए, अतिव्याप्ति दोष को लीजिए। प्लेटो की एकेडमी मे मनुष्य की परिभाषा की गई कि मनुष्य पखरहित द्विपद है। परन्तु डायोजनीज ने एक चूजा को एकेडमी मे पटक दिया और कहा कि यह पख-रहित है और द्विपद है तो क्या यह मनुष्य है? इस प्रकार मनुष्य की परिभाषा अतिव्याप्ति थी। बाद मे एकेडमी के विद्वानो ने इसमे जोड़ा कि मनुष्य वह पंख-रहित द्विपद है जिसके बड़े नाखून न हों। किन्तु इस प्रकार अतिव्याप्ति को दूर करना सरल नहीं है। सिद्धान्तत: अतिव्याप्ति को एक सीमा तक ही दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार अस्पष्टता को भी जड़ से समाप्त नही किया जा सकता। आई० यम० कोपलाविश तो यहाँ तक कहते है कि यदि लक्षण के पद अस्पष्ट रहते हैं तो लक्षण अस्पष्ट होता है इसलिए लक्षण की अस्पष्टता को घटाने के लिए पुनः पुन विश्लेषण की आवश्यकता होती है और हम आदर्श स्पष्टता को प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि वह सिद्धान्ततः सभव नही है[७]। अधिक से अधिक हम निरन्तर अस्पष्टता को कम करने का प्रयास करते रह सकते है पुनश्च जाति

परिभाषा सीमान्त उदाहरणों में पर्याप्त नही होती है। उदाहरण के लिए, डेसमिड (Desmid) को जो पानी के अन्दर रहने वाला एक कोशीय पौधा है पशु कहा जाय या पौधा ? पशु की परिभाषा है, वह जीव जिसमे संवेदना हो और ऐच्छिक गति हो। डेसमिड में ये दोनो गुण है। फिर भी उसको गति-शील पौधा ही माना जाता है, जिसका कारण उपर्युक्त पशु की परिभाषा नही किन्तु कुछ और कारण हैं। ऐसे बहुत से पद है जिनकी सीमाए निश्चित नहीं है। उनके प्रसंग मे जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा देना केवल उनका सामान्य ज्ञान कराना है। उनकी परिभाषा के अनन्तर भी परिभाषा को विश्लेषित तथा परिष्कृत करने की आवश्यकता बनी रहती है। अन्त मे सी० आई० लेविस का कहना है कि सभी परिभाषाए वस्तुतः चक्रक होती हैं और उत्तम परिभाषा तथा निकृष्ट परिभाषा का अतर उस चक्र का व्यास है[८]। इसे समझने के लिए मान लीजिए क एक उत्तम परिभाषा है और ख एक निकृष्ट परिभाषा है। तब ये दोनो परिभाषाए एक वृत्त की परिधि के दो छोरों पर रहेगी। उनके बीच की दूरी क ख व्यास है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक परिभाषा अन्य परिभाषा से सापेक्ष रहती है और यह सापेक्षता उनका अन्योन्याश्रयत्व है। ऐसा मानने पर चक्रक होना वास्तव मे परिभाषाओ के निकाय की एक विशेषता हो जाता है और वह दोष नही रह जाता है। उपर्युक्त उदाहरण मे ख जिसे निकृष्ट परिभाषा कहा गया है वह वास्तव मे निकृष्ट नही है अपितु बहुत अपूर्ण है और क परिभाषा जिसे उत्तम कहा गया है वास्तव मे ख से अधिक पर्याप्त है। जब हम किसी अज्ञात पद को एक ऐसे पद द्वारा समझाते है जो ज्ञात है तो वहाँ चक्रक दोष नही होता है। उदाहरण के लिए, अंशुल चाणक्य का नाम है। यहाँ अंशुल का अर्थ अज्ञात है और चाणक्य का अर्थ ज्ञात है। इसलिए अंशुल चाणक्य का नाम है, यह वाक्य सार्थक और स्पष्ट है। यद्यपि इस कथन मे चक्रक दोष हैं क्योंकि अंशुल और चाणक्य पर्यायवाची हैं, तथापि यह कथन महत्त्वपूर्ण है और अपने लक्षण को स्पष्ट करता है। इस कारण कभी-कभी चक्रक दोष को दोष नही माना जाता। परन्तु जहा चक्रक बहुत स्पष्ट हो और उसके बिना भी कार्य चल सकता हो, वहाँ उसे दोष माना जाता है। विलोम या पर्याय द्वारा किसी पद की परिभाषा करना चक्रक दोष मे ग्रस्त रहता है। पद्म को कमल कहना और कमल को पद्म कहना चक्रक दोष है। इसी प्रकार जीवन उन शक्तियो का सहयोग है जो मृत्यु का प्रतिरोध करती है अथवा कारण का अर्थ है वह जो कार्य को उत्पन्न करता है, ये दोनो परिभाषाएँ शुद्ध नहीं कही जा सकती, क्योंकि इनमें चक्रक दोष हैं। अतः चक्रक दोष सामान्यत परिभाषा का एक दोष है। परन्तु रिचर्ड राबिन्सन कहते हैं कि चक्रक होना विश्लेषण का रोग है, न कि परिभाषा का[९]। किन्तु जैसा कि स्टेबिग कहती है परिभाषा मे विश्लेषण निहित रहता

है[10]। इसलिए यदि राबिन्सन की बात ठीक है, तो भी चक्रक होना परिभाषा का रोग या दोष माना जा सकता है। परन्तु परिभाषा के उपर्युक्त दोष का विवाद यह नही सिद्ध करता कि ये दोष यथासंभव दूर नहीं किये जा सकते है। वह इतना ही सिद्ध करता है कि व्यवहारिक जगत मे हम जिन परिभाषाओं का प्रयोग करते हैं यदि उनमें कुछ दोष रहते है तो भी वे अपने परिभाष्य का कुछ परिचय देती है। किन्तु यह सामान्य भाषा के तर्कशास्त्र से सम्बन्धित है। आकारिक तर्कशास्त्र मे ऐसी परिभाषाओं मे काम नही चल सकता जिसमें कुछ दोष हों। इसलिए आकारिक तर्कशास्त्र में और विशेषतः गणित मे निर्दोश परिभाषाओं का महत्व अक्षुण्ण है। जहाँ निश्चित रूप से कुछ सिद्ध करना पड़ता है वहाँ सुनिश्चित परिभाषाओं की आवश्यकता पड़ती है। और सुनिश्चित परिभाषाएँ वही हो सकती है जिनमे उपर्युक्त दोष न हो।

(६७) अरस्तू तथा पार्फरी का परिभाषा-सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी तक प्रायः सर्वमान्य था। किन्तु इस शताब्दी मे परिभाषा की पुनः परिभाषा की गयी और परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त की आलोचनाएँ प्रस्तुत की गई। सर्वप्रथम, यह कहा गया कि परिभाषा वास्तव में किसी वस्तु की नही होती है, अपितु पद या प्रतीक की होती है। परिभाषा किसी पद या प्रतीक का प्रयोग निश्चित करती है। दूसरे, परिभाषा किसी विज्ञान के अन्तिम विकास की अवस्था में नही प्रकट होती, अपितु वह उस विज्ञान के आरम्भ मे अनिवार्य रूप से स्वीकार्य की जाती है, क्योंकि बिना पद या प्रतीक की निश्चित परिभाषा के किसी विज्ञान का आरम्भ नहीं किया जा सकता। तीसरे, आधुनिक विकासवाद ने इस मत का खण्डन कर दिया है कि किसी वस्तु का कोई अपना स्वरूप या लक्षण होता है। सभी वस्तुओं मे उनका वह मूल रूप विद्यमान है जिससे उसका उद्भव हुआ है। अद्वैत वेदान्त और शून्यवाद तथा निरपेक्ष प्रत्ययवाद भी इस मत को प्रतिपादित करते हैं कि हम जिन वस्तुओ को देखते और जानते है उनका कोई अपना स्वरूप नही होता है, क्योंकि वे सभी अन्योन्याश्रित है और अन्ततोगत्वा एक निरपेक्ष वस्तु पर आधारित हैं। चौथे, परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त ज्ञानवर्धन में सहायक नही है। वह वस्तुओं की ऐसी परिभाषा देता है जो विज्ञानो मे प्रायः उपयोगी नही है। उदाहरण के लिए, जब कहा जाता है कि मनुष्य एक बुद्धिमान् प्राणी है तो इससे न तो तर्कशास्त्र या मनोविज्ञान का विकास होता है, न किसी अन्य विज्ञान का। परन्तु, यदि इस परिभाषा के स्थान पर मान लिया जाय कि मनुष्य एक राजनीतिक पशु है या मनुष्य एक उपकरण का उपयोग करने वाला पशु है या मनुष्य एक उन्मादग्रस्त प्राणी है, तो उससे मनुष्य के गुण को बताने वाला शास्त्र राजनीति-विज्ञान अर्थशास्त्र या का विकास होता है।

(६८) परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की केवल एक परिभाषा ही सकती है। परन्तु ऐसा सभव नही है। प्रत्येक वस्तु की परिभाषा पर विवाद है, जिससे स्पष्ट है कि उस वस्तु की परिभाषाएँ विविध है। देश या काल का ही उदाहरण लिया जाय तो ज्ञात होगा कि देश या काल की कोई एक निश्चित परिभाषा नही है। फिर परिभाषाएँ बदलती रहती हैं। ज्यो-ज्यो ज्ञान का विकास होता है त्यों-त्यों परिभाषा का परिष्कार होता रहता है। भारतीय दर्शन मे हम प्रत्यक्ष या प्रमाण की परिभाषा का उदाहरण ले सकते है। इनकी जो विविध परिभाषाएँ है वे ज्ञान-वृद्धि या परिष्कार के फलस्वरूप सपन्न हुई है। अत. निष्कर्ष है कि किसी पदार्थ की कोई एक निश्चित परिभाषा नही की जा सकती। इस कारण परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त आलोचना पर खरा नही उतरता है।

(६९) किन्तु यह कहा जा सकता है कि परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त की उपर्युक्त आलोचनाएँ तर्कशास्त्रीय नही है। अत. आधुनिक तर्कशास्त्रियो के विचारो को प्रस्तुत प्रसग मे जानना आवश्यक है। इस प्रसंग मे प्रोफेसर पैट्रिक सुप्पीज की आलोचना प्रासगिक है। उन्होने दिखाया कि तर्कशास्त्र की दृष्टि मे भी परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त समीचीन नही है[१२]। परम्परागत परिभाषा के चारों नियमों का पालन करते हुए सुप्पीज ने तारा नामक एक प्रतीक (⊛) की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की—

तारा प्रतीक (⊛)

य ⊛ र = ल

यदि और केवल यदि य∠ल और र∠ल।

यह परिभाषा तारा प्रतीक के स्वरूप को अभिव्यक्त करती है, इसलिए यहाँ प्रथम नियम का पालन है। यह चक्रक नही है, इसलिए इसमें दूसरे नियम का पालन है। यह स्वीकारात्मक है इसलिए इसमें तीसरे नियम का भी पालन है। अन्त में यह अस्पष्ट या अलकारिक नही है इसलिए इसमे चौथे नियम का भी पालन है[१३]। अतः यह परिभाषा परम्परागत परिभाषा सिद्धान्त के अनुसार सही है।

परन्तु यह परिभाषा गलत हैं। इस गलती को निम्नप्रकार से दिखाया जा सकता हैं।

(१) ४ ⊛ ५ = ९ क्योंकि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार यह सही है, क्योंकि ४<९ और ५<९, इसलिए तारा प्रतीक की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार समीकरण (१) सत्य है।

(२) ८ ※ ५ = ११ क्योंकि ८ < ११ और ५ < ११ इस प्रकार तारा प्रतीक की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार समीकरण (२) भी सत्य है।

(३) अतः ९ = ११ क्योंकि समीकरण (१) और समीकरण (२) से यह सिद्ध है।

इस प्रकार तारा प्रतीक की उपर्युक्त परिभाषा हमें यह गलत ज्ञान देती है कि ९ और ११ बराबर होते हैं। उपर्युक्त अनुमान में समरूपता और तारा प्रतीक की परिभाषाओं का प्रयोग किया गया है इसमें समरूपता की परिभाषा ठीक है और उसके आधार पर जो निष्कर्ष निकाला गया है उसकी प्रक्रिया सत्य है। किन्तु फिर भी निष्कर्ष असत्य है और इस असत्यता का कारण तारा प्रतीक की परिभाषा है। अतः स्पष्ट है कि परम्परागत परिभाषा के नियम अपर्याप्त हैं और वे किसी वस्तु की पर्याप्त तथा सत्य परिभाषा देने में असमर्थ हैं। तारा प्रतीक की उपर्युक्त परिभाषा में यह दोष है कि उसमें य ※ र अभिव्यक्ति का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं है और वह अनेकार्थक है। परन्तु यह दोष परम्परागत परिभाषा के किसी भी नियम के उल्लंघन के कारण नहीं है। अतः यह परिभाषा का एक अन्य नियम सूचित करता है जिसके अनुसार परिभाषा को परिभाष्य की एकार्थकता का प्रतिपादन करना चाहिए। मात्र स्वरूप-कथन से एकार्थकता का प्रतिपादन नहीं होता है।

(७०) पोलैण्ड के तर्कशास्त्री यस० लेस्नीवस्की (1886-1939) ने परिभाषा की दो कसौटियाँ दी हैं—निराकरणीयता की कसौटी और असृजनात्मकता की कसौटी। प्रथम कसौटी का तात्पर्य है कि परिभाषित प्रतीक को किसी अनुमान या सिद्धान्त से निराकृत किया जा सकता है। इस अर्थ में परिभाषा एक नयी स्वयंसिद्धि या प्रतिज्ञप्ति के रूप में ली जाती है। किन्तु चूंकि परिभाषाएँ सिद्धान्ततः हटायी जा सकती हैं, इसलिए वे मौलिक स्वयंसिद्धि या मान्यता के रूप में नहीं मानी जाती। उदाहरण के लिए, द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र में हम परिभाषा द्वारा आपादन के प्रतीक को समुच्चय और निषेध के प्रतीकों में बदल देते हैं और ऐसा करके अनुमान प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। दूसरी कसौटी का तात्पर्य है कि परिभाषा के द्वारा कोई ऐसी प्रतिज्ञप्ति नहीं सिद्ध की जा सकती जो परिभाषा के पूर्व न सिद्ध की जा सके अर्थात् परिभाषा पहले से सिद्ध प्रतिज्ञप्तियों को ही सरल रूप से दूसरे प्रकार से अभिव्यक्त करती है। यदि स्वयंसिद्धियाँ और पूर्ववर्ती परिभाषाएं सुसंगत हैं और यदि किसी नये प्रतीक की अभिव्यक्ति उसमें बाधा उत्पन्न कर देती है तो वह नयी अभिव्यक्ति असृजनात्मकता की कसौटी को संतुष्ट नहीं करती है। अतः ऐसी परिस्थिति में इस नये प्रतीक की परिभाषा ठीक नहीं मानी जा सकती। सुप्पीज ने तारा प्रतीक की ऊपर जो परिभाषा दी है वह असृजनात्मकता की कसौटी पर खरी नहीं है, क्योंकि उसके कारण युक्ति में बाधा या विरोध आ जाता है चूंकि परिभाषा

सिद्धान्त किसी पद या प्रतीक की परिभाषा नही देता, इसलिए प्रथम कसौटी का भी अनुपालन उसमे नही है। पुनश्च चूकि वह वस्तु के स्वरूप-कथन को उसके अनिवार्य और आकस्मिक गुणों से पृथक् करती है और वैज्ञानिक अनुसधान मे अनिवार्य गुण तथा आकस्मिक गुण का अनुसधान विशेष रूप से किया जाता है इसलिए वहाँ परिभाषा के द्वारा वस्तु का परिवर्तन या स्थानातरण नही किया जा सकता। इस प्रकार परिभाषा की इन दोनों कसौटियो पर परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त खरा नही उतरता है।

पुनश्च पहली कसौटी का विश्लेषण परिवर्तन (Conversion) और प्रतिस्थापन (Substitution) के रूप मे किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित परिभाषा को लीजिए। क्वारा अविवाहित पुरुष है, इस परिभाषा का परिवर्तन करने पर निम्नलिखित परिभाषा मिलती है जो सत्य है—अविवाहित पुरुष क्वारा है। इस प्रकार परिवर्तन की कसौटी पर यह परिभाषा सत्य है। फिर इस परिभाषा को हम निम्नलिखित समीकरण मे लिख सकते है—

क्वारा = अविवाहित पुरुष (परिभाषा) और (१) एक क्वारा पुरुष अपना विवाह करने को सोच रहा है, इस वाक्य मे क्वारा पद के स्थान पर अविवाहित पद का प्रतिस्थापन यदि कर दिया जाय तो वाक्य होगा (२) एक अविवाहित पुरुष अपना विवाह करने को सोच रहा हैं। "१" और "२" वाक्यों का अर्थ समान है। अतएव वे परस्पर प्रतिस्थापनीय हैं। इस प्रकार प्रतिस्थापनीयता की कसौटी पर यह परिभाषा सत्य है।

(७१) परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त के अनुसार जिस परिभाषा को परिभाषित किया जाता है उसे आजकल वास्तविक परिभाषा (Real Definition) कहा जाता है। स्टीफेन यफ० बार्कर ने उन्हे उदघाटनात्मक परिभाषाए (Revelatory Definition) कहा है क्योंकि वे वस्तुओ के स्वरूप का उद्घाटन करती है। किन्तु इस रूप मे उन्होंने परम्परागत परिभाषा-दोषों को दोष नहीं माना है। उदाहरण के लिए, जब वास्तु को जमा हुआ सगीत कहा जाता है तो परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार इस परिभाषा मे अलंकारिक दोष है। परन्तु बार्कर के अनुसार यह परिभाषा रूपक है और वास्तु के स्वरूप का उद्घाटन करती है। उनका कहना है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। किन्तु इस मत को परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त अस्वीकार करता है, अत वह दोषपूर्ण है। अनन्तधर्मात्मक होने के कारण किसी वस्तु की एक नहीं किन्तु अनेक परिभाषाए सभव है, क्योकि प्रत्येक परिभाषा किसी-न-किसी गुण का उद्घाटन करती है।[१४] इस प्रकार बार्कर ने परम्परागत परिभाषा सिद्धान्त को आधुनिक सन्दर्भ मे भी सीमित महत्व प्रदान किया है। यह परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त की एक प्रकार की प्रतिरक्षा है

(७२) इरविंग यम० कोपी ने परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त को आज भी सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। वे कहते है कि जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा परिभाषा के उन पाँचों प्रयोजनो को पूरा करती है और उन पाँचो प्रकारों की हो सकती है जिन्हें तर्कशास्त्रीगण आजकल मान रहें है[१५]। उनके मत से परिभाषा के पाँच प्रकार निम्नलिखित है—

(१) ऐच्छिक परिभाषा

(२) कोषीय परिभाषा

(३) यथार्थ परिभाषा

(४) सैद्धान्तिक परिभाषा

(५) प्रेरक परिभाषा ।

आगे, उनके अनुसार परिभाषा के पाँच प्रयोजन निम्नलिखित हैं :—

(१) शब्द-भण्डार की वृद्धि करना

(२) अनेकार्थकता को दूर करना

(३) अस्पष्टता को दूर करना

(४) सैद्धान्तिक व्याख्या करना

(५) मनोभावो को प्रभावित करना ।

परन्तु प्रोफेसर कोपी का उपर्युक्त कथन ठीक नही है। कारण, जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा का प्रयोजन शब्द-भण्डार की अभिवृद्धि करना नही हो सकता, क्योंकि वह कोई नया शब्द नही देती है, अपितु किसी शब्द विशेष का लक्षण निश्चित करती है। वास्तव मे कोपी ने उद्देश और लक्षण को अभिन्न किया है जो ठीक नही है। न्याय-दर्शन मे उद्देश और लक्षण को भिन्न किया गया है। उद्देश नामकरण है। वह शब्द-भण्डार की अभिवृद्धि करता है। परन्तु लक्षण या परिभाषा नामकरण नहीं है अपितु वह विश्लेषण है। इसलिए वह शब्द-भण्डार की अभिवृद्धि नही करता। पुनश्च जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा स्वरूप-कथन है। इसलिए उसका प्रयोजन मनोभावो को प्रभावित करना नही हो सकता। अतः जाति व्यवच्छेदक परिभाषा के केवल अवशिष्ट तीन ही प्रयोजन हो सकते हैं अर्थात् अनेकार्थकता दूर करना, अस्पष्टता दूर करना और सैद्धान्तिक व्याख्या करना। इससे परिभाषा का कार्य अस्पष्टता तथा अनेकार्थकता का निवारण और किसी सिद्धान्त की व्याख्या करना है। पुनश्च बार्कर ने स्पष्ट किया है कि जाति-

परिभाषा ऐच्छिक और विश्लेषणात्मक न होकर उद्घाटनात्मक होती

है।[१३] कुछ भी हो, जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा प्रेरक परिभाषा नहीं है, क्योंकि वह कोई भावना नहीं पैदा करती है। इस प्रकार जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा को ऐच्छिक-परिभाषा और प्रेरक परिभाषा नहीं कहा जा सकता है।

वास्तव मे कोपी ने परिभाषा के जो प्रकार बताये है वे किसी पद या प्रतीक की परिभाषा के है। वे वस्तु की परिभाषा या वस्तु के लक्षण के प्रकार नही है। अतएव जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा की प्रकारता उनसे भिन्न है। इस भिन्नता का बोध प्रो० कोपी के उपर्युक्त कथन में नही मिलता है।

रिचर्ड राबिन्सन ने परम्परागत परिभाषा के नियमो और दोषों की आलोचना करते हुए कहा कि वे सभी परिभाषा की विश्लेषण-विधि से सबधित है और अन्य विधियो मे उनका कोई उपयोग नही है।[१७] शाब्दिक परिभाषा (Nominal Definition) के लिए तो वे व्यर्थ है और केवल वास्तविक परिभाषा (Real Definition) के नियम तथा दोष है।[१८] वे वादन्याय और विवाद मे विजिगीषा से सबधित है जो अरस्तू के समय से प्रचलित थे। किन्तु अब वे अनुपयुक्त ध्वसावशेष हैं।[१९] शब्द सीखना, शब्द सिखाना और शब्द-ज्ञान का प्रसार करना आधुनिक युग में परिभाषा के मुख्य प्रकार्य हैं। किन्तु परम्परागत परिभाषा के नियमो का यह प्रकार्य नही है। अतएव अब वे तर्कशास्त्र के म्यूजियम की मात्र सामग्री है।

(७३) परन्तु रिचर्ड राबिन्सन परिभाषा के भाषा-सिद्धान्त को मानते हैं। आधुनिक युग में भी अनेक तर्कशास्त्री तथा दार्शनिक परिभाषा के स्वरूपवादी सिद्धान्त तथा प्रत्ययवादी सिद्धान्त को मानते है। उनके लिए परम्परागत परिभाषा सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक और उपादेय है। अत. उपसहार मे कहा जा सकता है कि परम्परागत सिद्धान्त से आज का परिभाषा-सिद्धान्त बहुत आगे बढ़ गया है। आधुनिक तर्कशास्त्र मे परिभाषा का विवेचन, उसके प्रकार, उद्देश और विधियो का जो वर्णन किया गया है वह परम्परागत परिभाषा सिद्धान्त को मात्र आरंभिक सिद्ध करता है। उसका महत्त्व अब मुख्यत. ऐतिहासिक रह गया है। परन्तु उसने तर्कशास्त्र को विकसित होने मे सहायता की है। उसकी कुछ पदावलियाँ तथा उसके द्वारा बताये गये दोष आज भी प्रासंगिक है। जाति, उपजाति, व्यवच्छेदक गुण, आकस्मिक गुण तथा परिभाषा के पाँच दोष (अतिव्याप्ति, चक्रक, आलकारिक या अस्पष्टता तथा निषेधात्मकता) इन सब का महत्त्व आज भी उतना ही है जितना पहले था। आज उनका क्षेत्र और प्रसग बदल गया है और कुछ बढ भी गया है। विश्लेषण की जिस विधि को इन नियमों और दोषों ने जन्म दिया है वह आज भी उपयोगी है और उसका आज भी प्रयोग तथा विकास हो रहा

है। अन्ततः जीव-विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान में आज भी जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा का अनुपालन किया जा रहा है। वह इन विज्ञानों के लिए जितना उपयोगी है उतना अन्य विज्ञानों के लिए नहीं। इसलिए जाति व्यवच्छेदक परिभाषा का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है।

(७४) आधुनिक तर्कशास्त्र के जनक फ्रेग गाटलोब ने परिभाषा के परम्परागत नियमों के स्थान पर निम्नलिखित सात नियम बनाए हैं जिनका आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन में विशेष सम्मान है[२०] :—

(१) प्रत्येक पद का जिसे पूर्व परिभाषित पदों में से शुद्धतापूर्वक रचा जाना चाहिए एक निर्देश (Reference) होना चाहिए, अन्यथा उसका प्रयोग अनियत होगा।

(२) किसी संकेत को दो भिन्न प्रकारों से परिभाषित नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे दोनों परिभाषाओं की सहमति पर संदेह हो सकता है।

(३) परिभाषित पद को सरल होना चाहिए अर्थात् उसको अन्य पदों से निर्मित नहीं होना चाहिए।

(४) परिभाषा के द्वारा प्रयुक्त किया गया व्यक्तिवाचक नाम को अपने समस्त प्रयोगों में लक्षण के द्वारा परिवर्तनीय होना चाहिए और उसका प्रयोग फलन (function) के रूप में नहीं होना चाहिए।

(५) जो पद प्रथम स्तर के फलन के लिए एक कोणांक के साथ प्रयुक्त होता है उसमें केवल एक कोणांक स्थान होना चाहिए क्योंकि यदि उसमें कई कोणांक स्थान होंगे तो उनको विभिन्न प्रकार से भरा जा सकता है और फलतः वह पद कई कोणांकों के फलन के लिए प्रयुक्त होगा। लक्षण के सभी कोणांक स्थान परिभाषा में केवल एक ही तिर्यक अक्षर से भरे जाने चाहिए और उस अक्षर का ही प्रयोग लक्ष्य कोणांक स्थान के लिए प्रयुक्त करना चाहिए।

(६) इसी प्रकार जो पद प्रथम स्तर के फलन के लिए दो कोणांकों के साथ प्रयुक्त होता है उसमें केवल दो कोणांक स्थान होने चाहिए।

(७) परिभाषा में समानता चिह्न के एक ओर कोई ऐसा तिर्यक अक्षर ही नहीं होना चाहिए जो दूसरी ओर न हो।

इन नियमों में से प्रथम तीन नियम सामान्य हैं और अन्तिम चार नियम फ्रेग के विशिष्ट तर्कशास्त्र से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए, योग (जोड़) की परिभाषा उन्होंने निम्नलिखित प्रकार से की है :—

यदि 'क' कोई संख्या है और "ख" कोई संख्या है तो क + ख = ख + क। इस परिभाषा में प्रथम चारों नियमों का पालन किया गया है अंतिम तीन

नियम केवल फलन की परिभाषा में आवश्यक है जिनका उपयोग गणित तथा प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र मे किया जाता है।

संदर्भ और टिप्पणी

१ "A definition is a phrase signifying a thing's essence," Aristotle, Topics, 102

२ A Modern Introduction to Logic, L. S Stebbing, London 1953, p 432

३ An Introduction to Logic, H. W. B Joseph, Oxford, 1919, Chapters 4,5 and 6.

४ Introduction to Logic, Irving M Copi, Macmillan, New York, 6th ed, 1982, p. 165-169.

५ एल० एस० स्टेबिंग के उपयुक्त ग्रंथ मे उद्धृत पृ० 425 टिप्पणी —।

६ Definition, Richard Robinson, Oxford, 1954, p 141 and Introduction to Logic, Patrick Suppes, Indian edition, New Delhi, 1957, p 151।

७ Essays in Analysis, Alice Ambrose, London, 1966, p. 167। से आई० एम० कोपलोविश का उद्धरण।

८ रिचर्ड राबिन्स के उपयुक्त ग्रंथ मे उद्धृत पृ० 122।

९ Circularity is a disease of Analysis, not of definition, वही, रिचर्ड राबिन्सन उद्धृत ग्रंथ पृ० 145।

१० दे० स्टेबिंग, उद्धृत ग्रंथ पृ० 440।

११ वही, पृष्ठ 433।

१२ Introduction to Logic, Partrick Suppes. Indian edition, New Delhi, 1957, p 151-152।

१३ वही पृ० 152-155।

१४ The Elements of Logic, S F. Barker, 2nd edition, Magrahil, New York, 1974, p 213।

१५ इरविंग यम० कोपी के उपयुक्त ग्रंथ में उद्धृत पृ० 164।

१६ दे० बार्कर, उद्धृत ग्रंथ पृ० 210-213।

१७ रिचर्ड राबिन्सन के उपयुक्त ग्रंथ में उद्धृत पृ० 143।

१८ वही पृ० 144-146।

१९ The whole idea of laying down "rules" for definition is an inappropriate survival from the competitive atmosphere of Aristotle. Topics: वही पृ० 143।

२० The Development of Logic, William Kneale and Martha Kneale, Oxford 1962, p. 509-510.

6

परिभाषा के प्रकार

(७५) समकालीन तर्कशास्त्र जिसका सूत्रपात् फ्रेग और रसेल ने किया है, विश्लेषण की दृष्टि से परिभाषा-सिद्धान्त का अध्ययन करता है। इसके फलस्वरूप परिभाषा के प्रकारो का नये ढंग से अनुशीलन किया गया। सिद्धान्तत: परिभाषा के प्रकार कभी परिभाष्य के आधार पर किये जाते है तो कभी परिभाषा की विधि के आधार पर और कभी परिभाषा के प्रयोजन के आधार पर। इस प्रकार परिभाषाओ के वर्गीकरण का सिद्धान्त विविध है। यह उल्लेखयोग्य है कि विश्लेषण-युग के पूर्व इस त्रिविधता का विचार नही किया गया था और इस कारण परिभाषा का जो वर्गीकरण किया गया था वह अतार्किक था। उसमें परिभाषा के प्रयोजन और परिभाषा की विधि को अभिन्न समझा गया था और दोनों मे कोई अन्तर नही माना गया था। इस कारण वहाँ निर्देशात्मक परिभाषा (Ostensive Definition) और शाब्दिक परिभाषा (Nominal Definition) को एकार्थक समझा गया था। किन्तु निर्देशात्मक परिभाषा परिभाषा की विधि है और शाब्दिक परिभाषा परिभाषा का प्रयोजन बतलाती है। अतएव ये दोनों परिभाषाएँ एक तथा अभिन्न नही है। दोनो में घपला नहीं करना चाहिए।

आधुनिक युग मे इन दोनो परिभाषाओ के सम्बन्ध पर पर्याप्त विचार किया गया। उदाहरण के लिए रूडोल्फ कार्नप ने निर्देशात्मक परिभाषा और शाब्दिक परिभाषा को परस्पर समायोजन योग्य बताया है। परन्तु उनके मत का खण्डन करते हुए रिचर्ड राबिन्सन ने दिखलाया है कि ऐसा करना गलत है। वे कहते हैं कि किसी प्रयोजन को किसी विधि के साथ समायोजित करना वैसे ही गलत है जैसे कुर्सी और मेज को चीरने और खरादने से जोड़ना[1]। ज्ञान का फल ज्ञान-व्यापार और ज्ञान के कारण से भिन्न होता है। इसलिए परिभाषा के प्रयोजन को परिभाषा की किसी विधि मे अनिवार्यत जोड़ा नही जा सकता है, क्योंकि दोनो में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

(७६) परिभाष्य को लेकर परिभाषा के चार प्रकार होते है—वास्तविक परिभाषा, शाब्दिक परिभाषा, प्रत्ययात्मक परिभाषा और प्रतीकात्मक परिभाषा इनके वर्णन क्रमश यो है

(१) जो लोग मानते है कि परिभाष्य कोई वस्तु है उनके अनुसार परिभाषा वास्तविक होती है। जैसे मनुष्य एक बुद्धिमान् पशु है। यहां मनुष्य को देश-काल में स्थित एक सत् माना जाता है।

(२) जो मानते है कि परिभाषा का विषय या परिभाष्य शब्द है वे परिभाषा को शाब्दिक मानते है। जैसे, जो शब्द किसी का गुण बतलावे उसे विशेषण कहते है, उदाहरण के लिए 'लाल'' एक गुण है।

(३) जो लोग परिभाष्य को प्रत्यय मानते है उनके अनुसार परिभाषा प्रत्ययात्मक है। जैसे सौन्दर्य की परिभाषा, जो प्रतिक्षण नवीन होता रहता है वह सुन्दर है। या काव्य की परिभाषा—'रसात्मक वाक्य काव्य है'।

(४) अन्त मे जो लोग मानते है कि परिभाषा का विषय या परिभाष्य कोई प्रतीक है उनके अनुसार परिभाषा प्रतीकात्मक है जैसे, आपादन की परिभाषा, ऐसा नही है कि "य" सत्य है और "र" असत्य है। अर्थात् य ⊃ र = ∼(य. ∼र)। इस प्रकार वस्तुवादी, शब्दवादी, प्रत्ययवादी और प्रतीकवादी-परिभाषा को विभिन्न रूपो मे ग्रहण करते हैं।[२] प्रतीकवादी और शब्दवादी मे विशेष अन्तर नही है, क्योंकि शब्द भी एक प्रतीक ही होता है। अत. शब्दवादी और प्रतीकवादी दोनों को प्राय शब्दवादी ही कहा जाता है। इस प्रकार परिभाषा-सिद्धान्त मूलत. तीन है वस्तुवाद, सम्प्रत्ययवाद और शब्दवाद।

(७७) पुनश्च रॅजियल एबेलसन ने परिभाष्य के विषयों के आधार पर परिभाषा के तीन सिद्धान्त बताये है जिन्हे स्वरूपवाद या लक्षणवाद (Essentialism) आदेशवाद या विधिवाद (Prescriptivism) और शब्दवाद या भाषिक सिद्धान्त (Linguistic Theory) कहा जाता है।[३] उन्होने शब्द और प्रत्यय की परिभाषाओं को परिभाषा का भाषिक सिद्धान्त कहा है जिसका सूत्रपात जान स्टुअर्ट मिल ने किया और जिसका विस्तार आगे चलकर जी० ई० मूर ने किया। मूर के अनुसार परिभाष्य कोई सम्प्रत्यय होता है और मिल के अनुसार परिभाष्य कोई शब्द होता है। भाषिकसिद्धान्त के अनुसार परिभाषा एक प्रतिज्ञप्ति है जो किसी शब्द के अर्थ की सूचना देती है, वह अर्थ चाहे समाज द्वारा स्वीकृत और अनुमोदित हो या चाहे किसी वक्ता या लेखक की उपज्ञा हो। फिर आदेशवाद के अनुसार परिभाष्य केवल शब्द या प्रतीक होते है और परिभाषा केवल आदेश देती है। वह बताती है कि शब्द या प्रतीक का प्रयोग कैसे होना चाहिए। वह सूचनात्मक नहीं होती, अपितु आदेशात्मक होती है। इस प्रसग मे एबेलसन ने नामवाद और आकारवाद को आदेशवाद के दो प्रकार माने हैं। नामवाद के अनुसार परिभाषा शब्दों की परिभाषा मे उनके अर्थ विन्यास-सम्बन्धी नियम बताती है और आकारवाद

के अनुसार वह शब्द की सरचना या विन्यास (Syntax सम्बन्धी नियम बताती है। अन्त मे स्वरूपवाद आता है जिसके अनुसार परिभाषा किसी वस्तु के स्वरूप या लक्षण बतलाती है, वह सूचनात्मक होती है और किसी सामान्य वर्णनात्मक वाक्य की अपेक्षा अपने परिभाष्य के बारे मे अधिक सूचना देती है। इस सूचना की प्राप्ति प्रातिभज्ञान, विमर्श या प्रत्ययात्मक विश्लेषण द्वारा होती है। ऐसी परिभाषाएँ अकाट्य मानी जाती है। आदेशवाद भी मानता है कि परिभाषाएँ अकाट्य है, किन्तु वह मानता है कि वे सूचनात्मक नही है प्रत्युत सकेत, अभिसमय (Symbolic Conventions) है। ऐसी परिभाषाएँ अनेकार्थकता और सशय को दूर करती है और परिभाष्य को निरीक्षण-योग्य तथा नापने योग्य बनाती है। भाषिक सिद्धान्त मानता है कि परिभाषाएँ अनुभवजन्य और संशोध्य है। इसके साथ ही वह मानता है कि परिभाषा सूचनात्मक भी होती है।[४]

एबेल्सन ने इन तीनो सिद्धान्तों के कुछ उपभेद भी बताए है।

(क) स्वरूपवाद का एक प्रकार सुकरात और प्लेटो का परिभाषा-सिद्धान्त है जिसे हम प्लेटोवाद कह सकते है। यह मानता है कि परिभाषा उन विषयों का वर्णन करती है जो इन्द्रियगोचर विषयो के मूल है और जिनका ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से स्वतन्त्रेण होता है। इन्द्रियगोचर विषय उन विषयो के प्रतिबिम्ब है। किन्तु इस सिद्धान्त मे कुछ दोष है। पहले, इसके अनुसार कर्म की परिभाषा नही दी जा सकती। दूसरे, यदि प्रश्न किया जाय कि अमुक परिभाषा अच्छी है या नही ? तो प्लेटो का सिद्धान्त इस प्रश्न का समाधान बिम्ब, प्रतिबिम्बवाद से नही कर सकता। अत वह सदोष है। स्वरूपवाद का दूसरा प्रकार अरस्तू की परिभाषा है जो मानता है कि परिभाषा किसी विषय के आन्तरिक कारण का प्रकथन करती है। किन्तु यह भी एक रूपक है क्योकि प्लेटो के परिभाषा-सिद्धान्त की तरह यह भी आनुभविक कथन और परिभाषा मे अन्तर नही करती और परिभाषा का कोई मूल्याकन-सिद्धान्त नही प्रस्तुत करती। अत. यह भी सदोष है। स्वरूपवाद का तीसरा प्रकार लॉक, ह्यूम और हुसर्ल की रचनाओं मे मिलता है जो मानता है कि परिभाषाएँ शब्द-प्रयोग के अभिसमय है और उनके प्रत्ययों का अन्तर्दर्शनात्मक विश्लेषण करना परिभाषा नही है। फिर स्वरूपवाद का चौथा प्रकार डेकार्ट, काट, फ्रिग्ट, सी० आई० लेविस और जी० ई० मूर की रचनाओ में मिलता है जो मानते है कि परिभाषाएं सम्प्रत्ययात्मक विश्लेषण के फल है और उनके विषय मूर्त प्रत्यय या अर्थ है। तीसरे और चौथे प्रकारो को सम्प्रत्ययात्मक कहा जा सकता है। ये दोनो प्रकार अरस्तू द्वारा किये गये वास्तविक परिभाषा और शाब्दिक परिभाषा को स्वीकार करते है तथा शब्द-प्रयोग का विश्लेषण उनके अर्थों के माध्यम से करते है। दोनो मे अन्तर यह है कि तीसरा

प्रकार इन्द्रियगोचर विषयों के द्वारा विश्लेषण करता है और अमूर्त प्रत्यय के स्वतन्त्र भाव को अस्वीकार करता है जबकि चौथा प्रकार अमूर्त प्रत्ययो के स्वतन्त्र भाव को मानता है।

(ख) आदेशवाद के दो प्रकार है, नामवाद और आकारवाद। नामवाद बेकन और हाब्स की रचनाओं में मिलता है। वे मानते है कि परिभाषा नामकरण मात्र है। स्पष्ट है कि यह मत परिभाषा के प्राथमिक व्यापार पर ही बल देता है और शब्दों के केवल स्पष्ट अर्थ को परिभाषा मानता है। उसकी व्याख्या करने और प्रामाणिकता बताने मे यह असमर्थ है। फिर आकारवाद मानता है कि परिभाषा वाक्यो के सरचनात्मक सम्बन्ध को बताती है। इसके अनुसार परिभाषा अन्वीक्षा (Inquiry) की एक मौलिक प्रक्रिया है जो स्वयंसिद्धियों के अनन्तर घटित होती है। परिभाषा की सत्यता का सिद्धान्त परिभाषाओं की आन्तरिक सुसंगति है। आकारवाद का यह रूप डेकार्ट और पैस्कल की रचनाओ मे मिलता है। उनके अनुसार परिभाषा का निगमनात्मक प्रकार्य (Deductive Role) होता है। आधुनिक युग मे रसेल, क्वाइन, हैम्पेल, कार्नप और नेलसन गुडमैन ने इस आकारवाद को और अधिक परिष्कृत किया है। यह परिभाषा को समरूपता का सबध मानता है। इस मत में परिभाषा का मुख्य कार्य व्याख्यात्मक रहता है। किन्तु परिभाषाएँ मात्र आकार का यदि कथन है तो उनका क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है और सामान्य भाषा के लिए उनकी उपयोगिता नहीं रह जाती है। सामान्य भाषा मे वाक्य का अर्थ वाक्य की संरचना या आकार से भिन्न होता है। इसलिए परिभाषा मूलतः अर्थ-सिद्धान्त है जिसकी आकारवाद में उपेक्षा है। अतः आकारवाद अपर्याप्त है।

(ग) अन्त मे, परिभाषा का भाषा-सिद्धान्त है जिसे आधुनिक युग में मिल, राइल, आस्टिन, विट्गेन्स्टाइन आदि मानते है। ये लोग वास्तविक परिभाषा का निराकरण करते हैं। फिर ये आकारवाद का भी विरोध करते है और सामान्य भाषा के तर्क को प्रस्तावित करते हैं। इनके अनुसार परिभाषा का सम्बन्ध शब्द के प्रयोग (Use) से है, न कि शब्द के व्यवहार (Usage) से। शब्द-व्यवहार वह है जिसे मनुष्य आदतन करते है, किन्तु शब्द-प्रयोग वह है जिसे करना चाहिए और जो नियमो से अनुशासित होता है। शब्द-व्यवहार (Usage) का विवरण प्रस्तुत करना परिभाषा का कार्य नहीं है। उसका कार्य उन नियमों को बताना है जो किसी शब्द के प्रयोग (Use) को बताते है। अतः परिभाषाएँ वर्णन या विवरण न होकर नियम है। उनका सम्बन्ध प्रयोग (Use) से है, न कि शब्द-व्यवहार (Usage) से।

कभी-कभी जी० ई० मूर को भी इस परिभाषा-सिद्धान्त का हिमायती माना जाता है। परन्तु हमारे विचार से वे प्रत्ययात्मक विश्लेषण करते है और इस कारण

उन्हें स्वरूपवादी कहना अधिक समीचीन है। वास्तव में एवलसन द्वारा निर्धारित सभी परिभाषा-सिद्धान्तों से परिभाषा-सिद्धान्त का सम्पूर्ण इतिहास आ गया है। इन सभी को हम निम्नलिखित तालिका में रख सकते हैं जो परिभाषा-सिद्धान्त के अनुसार परिभाषा के बुनियादी प्रकारों का वर्गीकरण है।
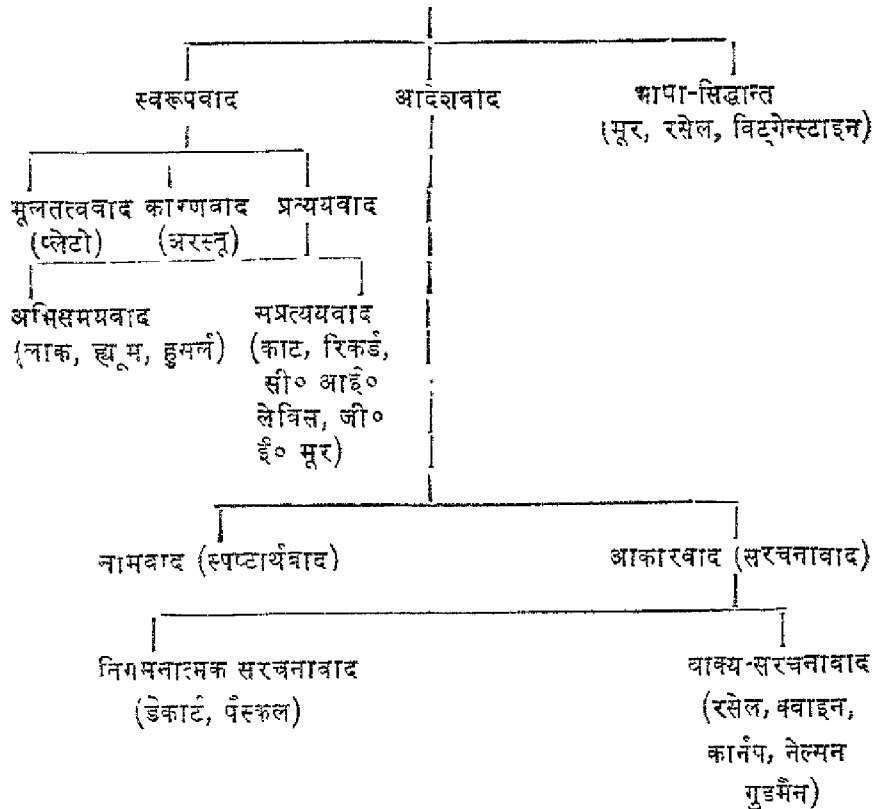
इन समस्त परिभाषा-सिद्धान्तों की आलोचना करने पर ज्ञात होता है कि परिभाष्य वस्तु संप्रत्यय या शब्द होते हैं। अब प्रश्न है कि इनमें से कौन मत सत्य है। वस्तुएँ जगत् की सामग्री है। प्रत्यय मानस सामग्री है और शब्द मानस सामग्री का प्रयोग करते हुए वस्तुओं के प्रयोग (इस्तेमाल) से सम्बन्धित होता है। अतः इन तीनों को परिभाषा का विषय कहा जा सकता है। जो लोग इनमें से केवल एक को ही परिभाषा का विषय मानते है उन्हें ही स्वरूपवादी, आदेशवादी या शब्दवादी कहा जाता है। किन्तु लोकव्यवहार में स्वरूपवाद, आदेशवाद और शब्दवाद का समन्वय देखा जाता है जिसमें ये तीनों मत एक दूसरे के पूरक हैं। एबेलसन इन तीनों के समन्वय पर बल देते है। किन्तु रिचर्ड राबिन्सन ने इन तीनों सिद्धान्तों

मे से केवल भाषा-सिद्धान्त (शब्दवाद) को माना है। उनकी पुस्तक डेफिनीशन परिभाषा पर अंग्रेजी मे एक मात्र स्वतन्त्र ग्रंथ है जो विश्लेषणात्मकदर्शन के अनुसार लिखा गया है। इसलिए उन्होंने परिभाषा के जिन प्रकारों का वर्णन किया है उनका विवेचन तथा मूल्यांकन विश्लेषणात्मक दर्शन के परिभाषा-सिद्धान्त को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक है।

(७८) प्रयोजन के अनुसार रिचर्ड राबिन्सन ने परिभाषा का वर्गीकरण सबसे पहले वास्तविक परिभाषा और शाब्दिक परिभाषा मे किया। फिर उन्होंने शाब्दिक परिभाषा का वर्गीकरण शब्द परिभाषा और शब्द-वस्तु-परिभाषा मे किया। अन्त में उन्होंने शब्द-वस्तु परिभाषा को कोशीय-परिभाषा और ऐच्छिक परिभाषा मे विभाजित किया। उन्होंने वास्तविक परिभाषा को वस्तु-वस्तु परिभाषा कहा। इस प्रकार उनके अनुसार परिभाषा के चार प्रकार हुए। इन्हें हम निम्न लिखित तालिका मे अभिव्यक्त कर सकते है—
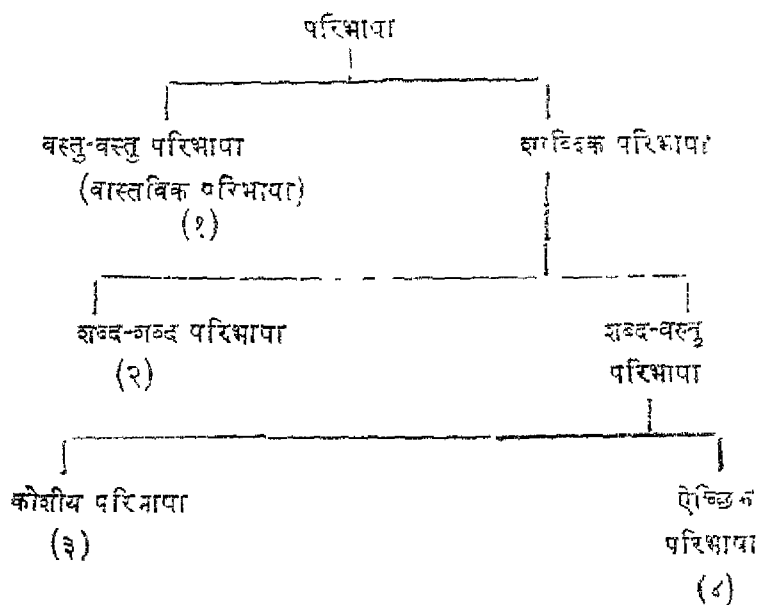
वास्तविक परिभाषा का प्रयोजन वस्तु का ज्ञान कराना है। उदाहरण के लिए जब प्लेटो प्रश्न करते है कि आत्मा क्या है ? न्याय क्या है ? आदि, तो उनका अभिप्राय 'आत्मा' शब्द और 'न्याय' शब्द का अर्थ जानना नही है बल्कि वह वस्तु जाननी है जो इन शब्दो से द्योतित होती है। इसके विपरीत शाब्दिक-परिभाषा का प्रयोजन किसी शब्द या प्रतीक का अर्थ जानना है। यह दो प्रकार की हो सकती है।

(१) किसी शब्द से दूसरे शब्द का अर्थ जानना। जैसे पुण्डरीक का अर्थ कमल है, यहाँ पुण्डरीक शब्द का बोध कराया जाता है उसके पर्यायवाची कमल शब्द के द्वारा। यह शब्द-शब्द परिभाषा है।

(२) फिर शब्द के द्वारा किसी वस्तु का भी बोध कराया जाता है जैसे जब हम कहते हैं कि अंग्रेजी शब्द 'रेड' का तात्पर्य वही वस्तु है जो हिन्दी शब्द 'लाल' का तात्पर्य है, तो यहाँ शब्द-वस्तु परिभाषा ही का रही है, क्योंकि यहाँ 'रेड' शब्द से एक वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। शब्द-वस्तु परिभाषा वास्तव में नामकरण है यह किसी वस्तु का नामकरण करती है और शब्द तथा वस्तु में समायोजन स्थापित करती है, जैसे यह घट है, यह लाल है आदि वाक्यों से हम घट और लाल का प्रयोग किसी वस्तु या गुण के लिए करते हैं। शब्द-वस्तु परिभाषा के दो प्रकार हैं—कोशीय परिभाषा और ऐच्छिक परिभाषा। कोशीय परिभाषा किसी शब्द के उस अर्थ की सूचना देती है जो परम्परा द्वारा व्यवस्थित रहता है, जैसे अम्बुज कमल है। फिर ऐच्छिक परिभाषा किसी शब्द को नया अर्थ प्रदान करती है, जैसे मैडम क्यूरी ने जिस तत्त्व की खोज की उसका नाम उन्होंने रेडियम रखा। गान्धी जी ने जिस आदर्श समाज की संकल्पना की उसको उन्होंने सर्वोदय कहकर परिभाषित किया। यहाँ रेडियम और सर्वोदय की परिभाषाएं ऐच्छिक हैं।

किन्तु प्रत्येक नामकरण परिभाषा नहीं है, यद्यपि परिभाषा भी एक प्रकार का नामकरण है। नामकरण नाम रखना है। नाम किसी व्यक्ति के होते हैं, फिर व्यक्ति चाहे पुरुष हो या वस्तु या स्थान या अवस्था। डब्लू० ई० जान्सन "नाम" के दो प्रकार बताते हैं, सार-रहित नाम और सारवान् नाम। सारवान् नाम वर्णनात्मक हैं, जैसे सबसे छोटा नक्षत्र, सबसे ऊँचा पहाड़, इंग्लैंड का राजा जिसने मैगनाचार्टा पर हस्ताक्षर किया था। ये वर्णन क्रमशः बुध, एवरेस्ट और जॉन के नाम हैं। फिर साररहित नाम हैं, जैसे डित्थ, देवदत्त, विश्वामित्र आदि। इन साररहित नामों का कोई व्युत्पत्तिमूलक या प्रवृत्तिमूलक अर्थ नहीं होता है। वास्तव में ये ही शुद्ध नाम हैं और इनका साररहित होना या निरर्थक होना आवश्यक है। जब हम किसी ऐसे नाम या शब्द का प्रयोग करते हैं तो मिल के अनुसार उसका केवल निर्देशात्मक अर्थ (Denotative meaning) होता है और उसका कोई गुणात्मक अर्थ (Connotative meaning) नहीं होता है। निर्देशन (Denotation) को ही प्रोग संकेतन (Indication) कहते हैं और संकेतन को अर्थ (Meaning) से भिन्न करते हैं। ऐसे शुद्ध नामों की परिभाषा केवल अँगुलि-निर्देश या अन्य संकेत के द्वारा ही हो सकती है और उन्हें विश्लेषणात्मक विधि द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता है। किन्तु यह जब सर्वप्रथम नाम रखा जाता

है तभी सत्य होता है। नामकरण के बाद जब नाम का प्रयोग किसी व्यक्ति के लिए रूढ हो जाता है तो उस व्यक्ति के गुण और कर्म के साथ वह नाम जुड़ जाता है। इसलिए वह नाम बाद में वर्णनात्मक हो जाता है और उसका गुणार्थ होने लगता है। उदाहरण के लिए, जब गाँधी जी के पिता जी ने उनका नाम मोहनदास रखा तब मोहनदास का अर्थ केवल सकेतात्मक था। गाँधी जी के सम्पूर्ण जीवन ने इस नाम को एक अर्थ प्रदान किया जो गुणार्थक है। इस प्रकार अब मोहनदास मात्र सकेतात्मक नहीं किन्तु गुणार्थक भी हो गया है। अहिंसा के देवदूत, भारत के राष्ट्रपिता, स्वदेशी के उपदेष्टा आदि आजकल गाँधी नाम के अर्थ हो गये है।

पुनश्च एफ० वाइजमन कहते है कि शुद्ध व्यक्तिवाचक नाम के तीन पहलू है[६]:—

(१) उसकी सकेतात्मक परिभाषा होती है।

(२) उसका प्रयोग सदैव एक ही व्यक्ति या विषय के लिए होता है।

(३) उसके लिए एक अनन्यता की कसौटी (Criterion of Identity) की आवश्यकता है जो बताती है कि एक ही व्यक्ति या विषय का क्या रूप है।

उदाहरण के लिए, कोहनूर, इस नाम को लीजिए। सबसे पहले जिसने इसका नामकरण किया उसने इसकी सकेतात्मक परिभाषा दी। फिर तब से लेकर आज तक कोहनूर जहाँ जहाँ रहा और आज जहाँ है उसका यह इतिहास देश मे उसकी निरन्तर सत्ता का प्रतिपादक है। यह बतलाता है कि कोहनूर शब्द का प्रयोग केवल एक हीरे के लिए हो गया है। अत इसकी एकता या अनन्यता की कसौटी का महत्व है। इस प्रसग मे देश मे निरन्तर होना कोहनूर की एकता की कसौटी है। इस प्रकार विश्लेषण करते हुए वाइजमन ने निष्कर्ष निकाला है कि सकेतात्मक परिभाषा किसी नाम की पूर्ण व्याख्या नहीं है, वह उसकी व्याख्या का एक अश मात्र है।[७] इसमे हम यह भी जोड़ सकते है कि सकेतात्मक परिभाषा किसी नाम की केवल आर[illegible] तथा आशिक व्याख्या है, क्योंकि इस परिभाषा के साथ ही अगुलि-निर्देश [illegible] सकेत, चेष्टाएं तथा कुछ नियम आवश्यक है जिनके कारण इसका प्रयोग भाषा में किया जाता है।

(७६) कोशीय परिभाषा (Lexical Definition)। कोशीय परिभाषा किसी शब्द की वह परिभाषा है जो बताती है कि वास्तव मे लोग उस शब्द का अर्थ क्या करते है। कोशीय परिभाषा शब्द का इतिहास है[८]। शब्दकोश शब्दो के उन सभी अर्थों को बताते है जिनका प्रयोग इतिहास बन चुका रहता है। चूँकि शाब्दिक परिभाषाएं ऐतिहासिक विवरण (Report) है, इसलिए वे सत्य या असत्य होती है। यदि वे उचित शब्द प्रयोग बतानी हैं तो वे सत्य हैं और यदि वे किसी शब्द

का गलत अर्थ बताती है, तब वे असत्य हैं। उदाहरण के लिए ट्रेड यूनियन शब्द का अर्थ एक शब्द-कोश में व्यापार-संघ किया गया है, परन्तु यह अर्थ गलत है क्योंकि ट्रेड यूनियन मजदूर संघ है। कोशकार को शब्द प्रयोग का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए, तभी वह सत्य कोशीय परिभाषाएं दे सकता है।

कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसकी कोशीय परिभाषा न दी जा सके। कोशीय परिभाषा भाषा का यथार्थ प्रयोग सिखाती है और भाषा में कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसको सिखाया या पढाया न जा सके। इस कारण कोशीय परिभाषा के लिए कोई शब्द अपरिभाष्य (Indefinable) नहीं है। किन्तु कुछ तर्कशास्त्रियों ने कहा है कि कतिपय शब्द अपरिभाष्य होते हैं। वे कोशीय परिभाषा के विरुद्ध निम्न-लिखित तर्क प्रस्तुत करते है :—

(१) जान स्टुअर्ट मिल का कहना है कि व्यक्तिवाचक नाम अपरिभाष्य होते है।

(२) लॉक का कहना है कि मूल प्रत्ययों के नाम अपरिभाष्य हैं, क्योंकि वे अविश्लेष्य है।

(३) कोशीय परिभाषा में चक्रक दोष होता है, उदाहरण के लिए, जल का अर्थ हम पानी करते हैं और पानी का अर्थ जल करते हैं।

(४) पैस्कल का कहना है कि कुछ शब्दों की कोशीय परिभाषा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका ज्ञान जन्मजात होता है अर्थात् कुछ शब्दों का अर्थ-ज्ञान जन्मजात (Innate Idea) है। डब्लू० ई० जान्सन भी मानते हैं कि कुछ शब्द इतने सरल, सहज और स्पष्ट हैं कि उनकी परिभाषा की आवश्यकता ही नहीं है।

परन्तु इन चारों युक्तियों का खण्डन करके रिचर्ड राबिन्सन ने सिद्ध किया कि कोई पद या शब्द कोशीय परिभाषा के लिए अपरिभाष्य नही होता, क्योंकि वह शब्द का उचित प्रयोग सिखाती है। सर्वप्रथम, मिल का तर्क गलत है क्योंकि व्यक्तिवाचक नाम निरर्थक नही होते हैं और वे नामधारी पुरुष या विषय का संकेत करते हैं। दूसरे, लॉक का मत गलत है क्योंकि लॉक ने शाब्दिक परिभाषा और वास्तविक परिभाषा में घपला किया है। यद्यपि वास्तविक परिभाषा विश्लेषण है और इसके बारे मे लाक का मत मानने योग्य है कि कुछ पद अविश्लेष्य है तथापि शाब्दिक परिभाषा विश्लेषण के अतिरिक्त अन्य विधियों का भी प्रयोग करके अर्थ को स्पष्ट करती है। इसलिए शाब्दिक परिभाषा के लिये कोई शब्द या पद अपरिभाष्य नहीं है। तीसरे, कोशीय परिभाषा का चक्रक होना कोई दोष नही है, क्योंकि इसका उद्देश्य ही है अज्ञात शब्द का ज्ञात शब्द के द्वारा अर्थ करना। इसका उद्देश्य कोई

तर्कगणित बनाना नहीं है जो चक्रक दोष या अनवस्था दोष से युक्त हो। इसलिये यदि एक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द द्वारा और दूसरे शब्द का अर्थ पहले शब्द के द्वारा किया जाता है तो वह शब्द-प्रयोग के दृष्टिकोण से उचित और उपयोगी है। अन्त में पैस्कल और जान्सन का मत भी यह नहीं सिद्ध करता है कि कुछ पद कोशीय परिभाषा के लिये अपरिभाष्य है। वह इतना ही सिद्ध करता है कि उनकी कोशीय परिभाषा की आवश्यकता नहीं पड़ती है, यद्यपि उनकी कोशीय परिभाषा दी जा सकती है। अतः सभी पद कोशकार के लिये परिभाष्य होते है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कोशीय परिभाषा पूर्ण होती है। ज्यों-ज्यों शब्द-प्रयोग बदलते है त्यों-त्यों कोशीय परिभाषाएं भी बदलती है। फिर वे संक्षिप्त होती है। अन्त में वे प्राय सूचनात्मक अर्थ देती है, किन्तु पदों के सन्दर्भात्मक (Contextual), संरचनात्मक (Syntactic) और भावात्मक (Expressive) अर्थ भी होते है जिनका उल्लेख करना कोशकार के लिए सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, सूर्य डूब गया, इस वाक्य का अर्थ संदर्भ तथा वक्ता और श्रोता के अनुसार अनेक हो सकते है जैसे संध्या-वन्दन करने चलो, भोजन बनाने चलो, घर वापिस चलो, चोरी करने चलो, आदि। कोशीय परिभाषा इन अर्थों को नहीं बता सकती है। अत उपर्युक्त सभी कारणों से कोशीय परिभाषा अपर्याप्त है। परन्तु भाषा सीखने के लिए वह बहुत उपयोगी है।

राबिन्सन ने कोशीय परिभाषा के चार आयाम बताए है—(१) सदर्भात्मक (Contextual), (२) संरचनात्मक (Syntactic), (३) अभिव्यञ्जनात्मक (Expressive) और (४) सूचनात्मक (Indicative)। इन सभी आयामों में केवल सूचनात्मक आयाम का ही प्रयोग शब्दकोशों में मिलता है। कोशीय परिभाषा के अन्य आयामों को जानने के लिए शब्दकोश केवल प्रथम सोपान है। उनका विशेष अर्थ जानने के लिए विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है जो समकालीन दर्शन में किया जा रहा है।

(८) **ऐच्छिक परिभाषा** (Stipulative Definition)। जब कोई मनुष्य किसी पद का वह अर्थ करता है जिसे वह स्वयं प्रयोग करने जा रहा है तब उसका अर्थ करना ऐच्छिक या यादृच्छिक परिभाषा है। यह कोशीय परिभाषा से भिन्न है, क्योंकि कोशीय परिभाषा किसी पद का वह अर्थ बताती है जिसका प्रयोग अन्य लोग करते है। इस प्रकार कोशीय परिभाषा एक प्रतिज्ञप्ति (Proposition) है और ऐच्छिक परिभाषा एक प्रस्ताव (proposal) है। कोशकार शब्द-प्रयोग से निर्धारित होता है, किन्तु ऐच्छिक परिभाषा करने वाला स्वतन्त्र या अनिर्धारित होता है। कोशीय परिभाषा शब्द-प्रयोग की रिपोर्ट है और ऐच्छिक परिभाषा नये शब्द प्रयोग के लिए एक आदेश या आह्वान है

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐच्छिक परिभाषा मनमानी प्रकथन है। यह मनमानीपन से भिन्न है। इस प्रसंग में हम्पटी-डम्पटी (Humpty-Dumpty) का दृष्टान्त दिया जाता है। उसने अंग्रेजी शब्द ग्लोरी (glory) का प्रयोग एक सुन्दर निग्रह स्थान (knock down) के लिए किया। एलाइस ने उससे कहा, तुम ग्लोरी शब्द का गलत प्रयोग कर रहे हो। हम्पटी-डम्पटी ने कहा कि उसे अधिकार है मेरे शब्द प्रयोग करने का। वह जैसा उचित समझेगा वैसा शब्द-प्रयोग करेगा।

अब प्रश्न है क्या ऐच्छिक परिभाषा हम्पटी-डम्पटीवाद है ? उत्तर है, नहीं। ऐच्छिक परिभाषा में हम्पटी-डम्पटीवाद नहीं चल सकता, क्योंकि शब्द का सर्वथा मनमानी प्रयोग करने से कोई अन्य पुरुष जो श्रोता है उसको समझ नहीं सकता। वक्ता को वही शब्द-प्रयोग करना पड़ता है जिसे श्रोता समझ सके, अन्यथा उसका वक्तव्य या कथन सम्प्रेषणीय नहीं हो सकता। इसलिए प्रचलित प्रयोग को मानना भाषा-व्यवहार के लिए अनिवार्य है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि नये शब्द गढ़े नहीं जा सकते या किसी प्रचलित शब्द का नया अर्थ नहीं किया जा सकता। यदि किसी नयी वस्तु का आविष्कार किया जाता है तो उसके लिए नया शब्द (Neologism) गढ़ा जा सकता है। यदि प्रचलित शब्द का कोई नया अर्थ उसकी अनेकार्थकता को दूर करता है और उसके प्रयोग को सुनिश्चित करता है तो वह भी उचित है। ऐच्छिक परिभाषा का यही प्रयोजन है। परन्तु अगर कोई कहे कि कुत्ता पाँच पैरोंवाला जानवर है, तो उसकी यह परिभाषा हम्पटी-डम्पटीवाद है और सर्वथा अमान्य और असम्भव है। इस प्रकार ऐच्छिक परिभाषाएँ अच्छी और बुरी दोनों हो सकती हैं। वे विश्लेषण द्वारा किसी प्रत्यय का परिष्कार भी कर सकती हैं और विश्लेषण को बचाने के लिए नये शब्द गढ़कर और भी घपला पैदा कर सकती हैं। इसलिए ऐच्छिक परिभाषाओं के लिए कुछ नियम बनाये गये हैं जिनका पालन करने में उनके दोषों को दूर किया जा सकता है। रिचर्ड राबिन्सन ने अपनी पुस्तक "डेफिनशीन" में इनके लिए पन्द्रह नियम बनाये हैं जिनमें से हम निम्नलिखित नियमों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं—

(१) ऐच्छिक परिभाषा का सबसे बड़ा नियम यह है कि यथासम्भव कम से कम ऐच्छिक परिभाषा करना चाहिए।

(२) ऐच्छिक परिभाषा के द्वारा किसी शब्द की भावात्मक शक्ति को परिवर्तित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

(३) किसी शब्द की ऐच्छिक परिभाषा के द्वारा उसके पुराने अर्थों को अनावश्यक बना दिया जाना चाहिए।

(४ ऐच्छिक परिभाषा संशोध्य या आलोच्य होनी चाहिए

(५) ऐच्छिक परिभाषा विशेषज्ञों द्वारा की जानी चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि ऐच्छिक परिभाषा किसी शास्त्र या विज्ञान के पर्याप्त ज्ञान पर निर्भर करती है और उस ज्ञान के अग्रिम विकास को बढाने के लिए बनाई जाती है।

(६) ऐच्छिक परिभाषाओं को सर्वसम्मत बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(७) ऐच्छिक परिभाषा को सुबोध और सूचनात्मक भाषा मे होना चाहिए।

(८) ऐच्छिक परिभाषा को निश्चित या अनेकार्थकता से रहित होना चाहिए।

वास्तव में ऐच्छिक परिभाषाएँ दो प्रकार की होती है। पहला, नये शब्द का नवीन अर्थ के लिए सृजन और दूसरा, पुराने शब्द का नये अर्थ के लिए प्रयोग। प्रथम अर्थ मे वह नामकरण है और दूसरे अर्थ मे वह पुनर्परिभाषा है। दोनों अर्थों में वह प्रतिज्ञप्ति न होकर प्रस्ताव है। इसलिए वह सत्य या असत्य नही होती। वह स्पष्ट या अस्पष्ट, लाभदायक या अलाभदायक, सरल या जटिल प्रतीकात्मक या शब्दात्मक हो सकती है। प्रो० कोपी ने परिभाषा के प्रकारों मे निश्चायक परिभाषा और सैद्धान्तिक परिभाषा को भी माना है। परन्तु इन दोनों प्रकार की परिभाषा वास्तव में ऐच्छिक परिभाषाओं के ही प्रकार है। प्रो० सी० एल० स्टीवेन्सन ने जिसे प्रेरक परिभाषा कहा हैं वह भी एक प्रकार की ऐच्छिक परिभाषा ही है। इन सब प्रकारों में परिभाषा किसी पद या प्रतीक का नया अर्थ प्रदान करती है।

(८१) प्रयोजनानुसार परिभाषा के प्रकारों का मूल्यांकन करते हुए रिचर्ड राबिन्सन ने निष्कर्ष निकाला है कि परिभाषा के स्वरूपवादी सिद्धान्त मे सबसे बडा दोष वस्तुओ के विश्लेषण और शब्दो की शाब्दिक परिभाषा में अन्तर न करना है[१]। इस दोष के कारण वास्तविक परिभाषा को शाब्दिक परिभाषा से भिन्न एक प्रकार की परिभाषा माना गया। उनका कहना है कि वास्तव में परिभाषा सदैव शाब्दिक ही होती है और वास्तविक परिभाषा का सिद्धान्त ही भ्रमात्मक है।

किन्तु उन्होंने प्रत्ययात्मक परिभाषा और वास्तविक परिभाषा मे भेद नही किया तथा इस बात को भी महत्त्व नहीं दिया कि शाब्दिक परिभाषा मे भी प्रत्ययात्मक व्यापार निहित रहता है। अतएव उनकी आलोचना परिभाषा के प्रत्ययवादी स्वरूपवाद सिद्धान्त पर लागू नही होती है। अधिक-से-अधिक वह केवल इस बात को रेखांकित करती है कि परिभाषा वस्तु का विश्लेषण नहीं है। यदि उनकी का इतना ही अर्थ है तो वह ठीक है पुनश्च राबिन्सन के

मत से वास्तविक परिभाषा मे निम्नलिखित बारह प्रकार के व्यापारों का घपला है—

(१) किसी अनेकार्थक शब्द के समस्त प्रयोगों में एक अभिन्न अर्थ खोजना।

(२) तत्व की खोज करना।

(३) किसी आकार का वर्णन करना और उसके लिए एक नाम का प्रयोग करना।

(४) किसी शब्द की परिभाषा करना और भूल से यह समझना कि वह शब्दो के बारे में चर्चा नही है।

(५) शाब्दिक परिभाषा द्वारा निर्धारित किसी पुनर्कथन को समझना।

(६) कारण की खोज करना।

(७) एक ऐसी कुंजी की खोज करना जो असख्य तथ्यों के समूह की व्याख्या कर सके।

(८) किन्ही आदर्शों को मानना और उनकी सस्तुति करना।

(९) अमूर्त चिन्तन करना अर्थात् सामान्य का ज्ञान प्राप्त करना।

(१०) विश्लेषण करना अर्थात् यह अनुभव करना की अमुक आकार वास्तव मे अनेक आकारों का संघात है।

(११) सश्लेषण करना अर्थात् यह अनुभव करना कि अमुक आकार किसी संघाती आकार का एक अंश है।

(१२) अपने प्रत्ययो का सशोधन या परिष्कार करना।

ये बारह प्रकार के व्यापार मानसिक क्रियाएँ है जिनको वास्तविक परिभाषा देने वाले दार्शनिक करते रहे है। किन्तु इन सभी व्यापारों मे कोई ऐसा सामान्य अश नही है जिसके आधार पर वास्तविक परिभाषा को स्वीकार किया जा सके। इसलिए 'वास्तविक परिभाषा' पद को हटा देना चाहिए और परिभाषा शब्द का प्रयोग केवल शाब्दिक परिभाषाओ के लिए ही करना चाहिए[10]। यह राबिन्सन का निष्कर्ष है।

(८२) स्पष्ट है कि रिचर्ड राबिन्सन का परिभाषा-सिद्धान्त शब्दवादी है है जिसका एकांगीपन हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके है। स्वय राबिन्सन स्वीकार करते है कि हम वास्तविक परिभाषा को भुला सकने में असमर्थ है, क्योंकि यह दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र का एक केन्द्रीय सिद्धान्त है। किन्तु वे कहते है कि वास्तविक परिभाषा का प्रयोग केवल दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र के इतिहास के अध्ययन तक ही सीमित रखना चाहिए और अब इस पद के प्रयोग का कोई

औचित्य नहीं है[11]। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि इसका कोई औचित्य नहीं है तो फिर भूतकाल के विचार को समझने मे इस गलत माध्यम का प्रयोग क्यो किया जाय। यदि अतीत के विचार को समझने मे और उसको विकसित करने मे इसकी निर्णायक भूमिका है तो तत्कालीन विचार को भी विकसित करने मे इसकी भूमिका क्यो नही हो सकती ? उनका यह कहना कि 'वास्तविक परिभाषा' करने के स्थान पर विश्लेषण का अर्थात् 'वास्तविक परिभाषा' के स्थान पर 'विश्लेषण' शब्द का प्रयोग किया जाय तो इस पद-परिवर्तन का कोई विशेष महत्त्व नही है, क्योकि 'विश्लेषण' शब्द स्वयं अनेकार्थक है और वह कुछ ऐसा व्यापार है जो मात्र शाब्दिक परिभाषा से भिन्न है। जब किसी पद की परिभाषा सुधारी या बदली जाती है तो उसका कारण मात्र शाब्दिक परिभाषा नहीं है, अपितु कोई विषयगत प्रत्यय है। इसलिए परिभाषा का शब्दवादी सिद्धान्त स्वयं प्रत्ययवादी सिद्धान्त की अपेक्षा करता है। विश्लेषण स्वयं मात्र शाब्दिक परिभाषा नहीं है, प्रत्युत प्रत्ययात्मक परिष्कार है और कुछ नियमो से बंधा रहता है। इस कारण भले ही वास्तविक परिभाषा के अन्तर्गत उपर्युक्त बारह प्रकार के व्यापार हो, किन्तु उनसे वास्तविक परिभाषा का सिद्धान्त गलत नहो सिद्ध होता, वरन् और अधिक समृद्ध होता है। ये बारह व्यापार वास्तविक परिभाषा करने की विधियाँ है और वास्तविक परिभाषा उनका प्रयोजन है।

अन्त में रिचर्ड राबिन्सन ने स्वयं इस बात पर बल दिया है कि परिभाषा के प्रयोजन को परिभाषा की विधि से भिन्न करना चाहिए। किन्तु उन्होने अपनी इस अन्तर्दृष्टि का पालन अपने लिए नही किया है। इस कारण उन्होने वास्तविक परिभाषा को उसकी विधियो के अन्तर्गत बारह प्रकार से बाँट दिया है। स्पष्ट है कि उनके सिद्धान्त के अनुसार ही वास्तविक परिभाषा का निराकरण करना गलत है। वास्तविक परिभाषा को उसकी विधियो से भिन्न करना आवश्यक है। वास्तविक परिभाषा मात्र सजानात्मक प्रक्रिया नही है, किन्तु इस प्रक्रिया से उपलब्ध एक सिद्धान्त भी है जो विषयगत है। रिचर्ड राबिन्सन की प्रक्रिया मनोगत है, विषयगत नही। यही उसका दोष है।

(८३) पाश्चात्य परिभाषा-सिद्धान्तो की तुलना न्याय-दर्शन के परिभाषा-सिद्धान्तो से करने पर पता चलता है कि परिभाषा का स्वरूपवादी सिद्धान्त दोनो को मान्य है। विशेषतः अरस्तु का कारणवाद, लॉक, ह्यूम और हुसर्ल का अभिसमयवाद और कांट, रिकर्ट, सी० आई० लेविस और जी० ई० मूर का सप्रत्ययवाद-स्वरूपवाद—ये तीन प्रकार न्यायदर्शन के परिभाषा-सिद्धान्त से तुलनीय है सबसे अधिक मतैक्य विश्लेषण की विधि पर है दोनो मे विश्लेषण का

प्रयोजन किसी सम्प्रत्यय की स्पष्ट परिभाषा प्राप्त करना है। फिर दोनों मे शब्द-बोध पर बल है जो बताता है कि वाक्यों के अर्थ को समझने के लिए पदार्थों के पारस्परिक संबंध को समझना वैसे ही आवश्यक जैसे वाक्य को समझने के लिए उसके घटक-स्वरूप पदों को समझना। यद्यपि आदेशवाद और भाषा-सिद्धान्त स्वरूपवाद का निराकरण करने का प्रयास करते है तथापि वे इस कार्य मे सफल नही हुए है। अधिक-से-अधिक वे स्पष्टता प्रदान करते है, किन्तु स्पष्टता पर्याप्त नही है। स्पष्टता दृष्टि या अन्तर्दृष्टि का स्थान नही ले सकती है। यदि अन्तर्दृष्टि नही है तो मात्र स्पष्टता व्यर्थ है। स्पष्टता का प्रयोजन अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना है। यह अन्तर्दृष्टि जिसका ज्ञान कराती है उसको सम्प्रत्यय, प्रत्यय, मूलतत्त्व, मूल-विषय, मूलवस्तु परमार्थ आदि कहा जाता है। इन्हीं का कथन करना परिभाषा है जिसे हमने अन्यत्र अभिकथन कहा है, क्योंकि यह सामान्य कथन से भिन्न है[१२]। अतः परिभाषा का स्वरूपवादी सिद्धान्त जो वास्तविक परिभाषा की व्याख्या को संभव बनाता है परमावश्यक है।

संदर्भ और टिप्पणी

१ "It would be an error to co-ordinate a purpose with a method just as it would be an error to list together tables and chairs and sawing and planning, because sawing and planning are methods of carpentry but tables and chairs are purpose of carpentry," Definition, Richard Robinson, Oxford, 1954, p-15

२ वही पृ० ७ और १०।

३ The Encyclopedia of Philosophy, Ed. Paul Edwards, Vol. 2, p 314-323, डेफिनिशन की प्रविष्टि।

४ वही, पृ० ३१८।

५ रिचर्ड राबिन्सन का ऊपर उद्धृत ग्रंथ पृ० १८-१९।

६ The Principles of Linguistic Philosophy, F. Waismann. Macmillan, 1965, reprint 1968, pp,200-201.

७ वही पृ० २००

८ "Lexical Definitiou is the form of History." *Definition*, Richard Robinson, p. 35 ।

९ "The failure to distinguish all the time between the analysis of things and the nominal definitions of words has been the cause of most of the common errors in theory of definition," ibid p 177 ।

१० वही, पृ० १८९-१९१ ।

११ वही, पृ० १९१ ।

१२ दे० वही अध्याय १, अन्तिम भाग ।

7

पाश्चात्य तर्कशास्त्र की परिभाषा-विधियाँ

(८४) परिभाषा की विधियों को प्राय परिभाषा के प्रकारो से अभिन्न किया जाता है। यही कारण है कि पर्यायवाची परिभाषा, विश्लेषणात्मक परिभाषा, सश्लेषणात्मक परिभाषा, निर्देशात्मक परिभाषा, सकेतात्मक परिभाषा, आवर्ती (रिकर्सिव) परिभाषा आदि पदावलियाँ प्रचलित हो गयी है। ये पदावलियाँ सज्ञाएँ है जिनसे ध्वनित होता है कि ये परिभाषा के प्रकार हैं। परन्तु इनका यह अर्थ भ्रामक है। वास्तव मे ये विधियाँ है और परिभाषा करने की रीति को अभिव्यक्त करती है। इन सब को वास्तव मे पर्याय द्वारा परिभाषा, विश्लेषण द्वारा परिभाषा सश्लेषण द्वारा परिभाषा, निर्देश द्वारा परिभाषा और सकेत द्वारा परिभाषा कहा जाना चाहिए। तब इनका अर्थ भ्रामक न होगा। वास्तव में उपर्युक्त पदावलियाँ तर्कत· सज्ञाएँ नही है किन्तु क्रियाविशेषण हैं। उदाहरण के लिए पर्यायवाची परिभाषा वास्तव मे वह परिभाषा है जो पर्याय के द्वारा दी जाती है।

परिभाषा करने के विधि अनेक है। रिचर्ड राबिन्सन ने पाश्चात्य तर्कशास्त्र के ऐतिहासिक अनुशीलन के आधार पर सात विधियो का निरूपण किया है जिनका विवेचन यहा क्रमश किया जाता है।

(८५) पर्याय-विधि। पर्याय-विधि किसी पद की परिभाषा उस पद से करती है जो पहले से विदित रहता है। उदाहरण के लिए, कलश घड़ा है। यहाँ घड़ा शब्द का अर्थ ज्ञात है, किन्तु कलश का अर्थ नही मालूम है। ऐसी परिस्थिति में कलश घडा है, यह कलश की परिभाषा हो जाती है। जब एक भाषा के शब्द का दूसरी भाषा के शब्द में अनुवाद किया जाता है तो परिभाषा की इसी विधि का प्रयोग किया जाता है। यह विधि वास्तव मे एक शब्द के द्वारा दूसरे शब्द की परिभाषा नही है, किन्तु शब्द-वस्तु परिभाषा है अर्थात् परिभाष्य पद जिस अर्थ को द्योतित करता है उसी अर्थ को परिभाषक पद भी बताता है। उदाहरण के लिए, जब कहा जाता है कि पराक्रम का अर्थ साहस है, तो यहाँ साहस शब्द से वह अर्थ व्यक्त किया जाता है जो पराक्रम शब्द से व्यक्त होता है। ऐसे ही घडा शब्द से वही अर्थ व्यक्त किया जाता है जो कलश शब्द से व्यक्त होता है। किन्तु पर्याय विधि निर्दोष नही होती है, क्योकि वास्तव मे कोई पद किसी अन्य पद का यथार्थतः पर्याय नहीं होता है और पर्यायों में कुछ-न कुछ अन्तर रहता है। पर्याय-विधि इस

अन्तर को अभिव्यक्त नहीं कर पाती । उदाहरण के लिए जब हम किसी स्त्री को महिला, कामिनी, रमणी कहते हैं, तो इन तीनों पदों का कुछ अपना विशिष्ट अर्थ भी है । इसी प्रकार जब कैटलाग को सूची, रजिस्टर या [illegible] कहा जाता है तो इन पदों द्वारा कुछ अपरिभाषित रह जाता है । फिर भी पर्याय-विधि पाठक को पद के अर्थ के निकट ले जाती है । इसलिये इसका प्रयोग प्रचलित है ।

(८६) **विश्लेषण-विधि** । विश्लेषण-विधि वास्तव में अरस्तू की जाति और व्यवच्छेदक विधि है जिसका प्रयोग पदों की परिभाषा के लिए किया जाता है । अरस्तू ने अपनी विधि का प्रयोग वस्तुओं के लक्षण के लिए किया था । विश्लेषण-विधि किसी पद को सबसे पहले एक ऐसे पद के अन्तर्गत रखती है जो उस पद से अधिक व्यापक हो और फिर उस पद की विशिष्टता का उल्लेख करती है । उदाहरण के लिये मनुष्य बुद्धिमान् पशु है, यह विश्लेषणात्मक परिभाषा है । पशु वर्ग मनुष्य वर्ग से व्यापक है और बुद्धिमान् शब्द मनुष्य को पशु से भिन्न करता है । परिभाषा की यह सर्वोत्तम विधि है, क्योंकि यह केवल वस्तु का नामकरण ही नहीं करती है, किन्तु उसका विश्लेषण भी देती है । परन्तु इस विधि में भी कुछ कमियां हैं । सर्वप्रथम, इसमें विश्लेषण और संश्लेषण का प्रयत्न अपेक्षित है जो सरल नहीं है । दूसरे, ये सभी पदों के लिए सम्भव नहीं है । जिन पदों के अर्थ अविश्लेष्य हैं उनकी परिभाषा इस विधि से नहीं हो सकती । उदाहरण के लिये, पीला रंग के घटक अज्ञात हैं, इसलिये इसकी परिभाषा विश्लेषण द्वारा नहीं की जा सकती । अन्त में व्यक्तिवाचक नामों की परिभाषा भी इस विधि के द्वारा नहीं की जा सकती । यह पुस्तक की परिभाषा दे सकती है, किन्तु रामायण की परिभाषा नहीं दे सकती । यह मनुष्य की परिभाषा दे सकती है, किन्तु जूलियस सीजर या चाणक्य की परिभाषा नहीं दे सकती ।

(८७) **संश्लेषण-विधि** । जब किसी पद की ऐसी परिभाषा की जाती है जो उससे अभिव्यक्त वस्तु को अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित करती है तो वहां संश्लेषण-विधि का प्रयोग किया जाता है । ऐसी परिभाषा को संश्लेषणात्मक परिभाषा कहा जाता है । विश्लेषण-विधि किसी वस्तु को उसके सभी भागों को एक अखण्ड इकाई के रूप में लेती है और संश्लेषण-विधि उस अखण्ड इकाई को केवल एक भाग बताती है । उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि ईश्वर परमात्मा है तो हम ईश्वर का सम्बन्ध अन्य आत्माओं से बताते हुए उसको परम या बड़ी आत्मा कहते हैं । इसलिए यह संश्लेषण-विधि के द्वारा परिभाषा है । ऐसे ही जब हम अंकगणित में कहते हैं कि इक्कीस वह सबसे छोटा पूर्णाङ्क है जिसको अंग्रेजी भाषा में एक शब्द के द्वारा नहीं कहा जा सकता तो इक्कीस की यह संश्लेषण विधि द्वारा दी

गयी परिभाषा है। फिर जब हम कहते है कि इक्कीस बीस का परवर्ती है तो वह इक्कीस की विश्लेषण-विधि द्वारा परिभाषा है जिसे विश्लेषणात्मक परिभाषा कहा जाता है।

संश्लेषण-विधि यह मानकर चलती है कि प्रत्येक वस्तु का अन्य वस्तुओ से सम्बन्ध रहता है और उन्ही सम्बन्धो के द्वारा उस वस्तु की परिभाषा की जानी चाहिए। इसलिए इसे परिभाषा की सम्बन्धात्मक विधि कहते है। आग्डेन और रिचार्डस ने कहा है कि इस विधि में वास्तव मे पद-परिभाषा की सभी विधियाँ शामिल है। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण कारणमूलक या उत्पत्ति-मूलक (Genetic definition) परिभाषा है। जैसे वृत्त वह आकृति है जो किसी समतल पर एक अटल बिन्दु से घूमने वाली रेखा से घिरी रहती है। कारणमूलक या उत्पत्ति-मूलक परिभाषाएँ कार्य-कारण-सम्बन्ध के आधार पर की जाती है। संश्लेषण-विधि का एक नमूना नोबेल पुरस्कार विजेता भौतिकविद् पी० डब्लू० ब्रिजमन ने अपनी पुस्तक 'द लॉजिक आफ माडर्न फिजिक्स" (The Logic of Modern Physics) मे १९२७ मे दिया जिसे प्रक्रियात्मक परिभाषा (Operational definition) कहा जाता है। उनके अनुसार सभी भौतिक सत्ताओ, प्रक्रियाओ और गुणो की परिभाषा उन व्यापारो और प्रयोगो के समूह द्वारा दी जा सकती है जिनके द्वारा वे प्रदर्शित होती है। उदाहरण के लिए, देश और काल की परिभाषा क्रमश दूरी और अवधि को मापने के व्यापारो द्वारा देना अधिक लाभदायक है। इसी प्रकार मस्तिष्क संवेदना, ज्ञान आदि मनोवैज्ञानिक पदो की प्रक्रियात्मक परिभाषा देना अधिक उपयोगी है। अति-अनुभववादी कभी-कभी यह जिद करते है कि कोई पद तभी अर्थपूर्ण होता है जब वह प्रक्रियात्मक परिभाषा के योग्य हो[1]। व्यवहारवादी, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक ऐसी परिभाषा करने को ही विश्लेषण का नाम देते है।

वास्तव मे संश्लेषण-विधि के द्वारा प्रत्येक पद की परिभाषा की जा सकती है। यही इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता है। किन्तु इसमें कुछ कमियाँ भी हैं। सर्वप्रथम, जो लोग मानते है कि प्रत्येक वस्तु अपने मे एक स्वत इकाई है और दूसरी वस्तु से सर्वथा असम्बन्धित है, उनके मत से ऐसी वस्तु की परिभाषा संश्लेषण-विधि के द्वारा नही की जा सकती है। दूसरे, प्राय संश्लेषणात्मक परिभाषा को विश्लेषणात्मक परिभाषा समझने की भूल हो जाती है। उदाहरण के लिए, लाल वह गुण है जो ६५०० से ७००० ऐंग्स्ट्रोम्स की प्रकाश-वेव लेंग्थ से सम्बन्धित है, यह संश्लेषण-विधि के द्वारा लाल की परिभाषा है। परन्तु लाल का अर्थ यह नही है। लाल रंग केवल वेवलेंग्थ से सम्बन्धित है- वह स्वय वेवलेंग्थ नहीं है। अत

यहाँ परिभाषक और परिभाष्य एकार्थक नहीं है। यहाँ परिभाष्य को परिभाषक से स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। गुलाब लाल है इस कथन के स्थान पर हम नहीं कह सकते कि गुलाब वह गुण है जो ६५०० से ७००० एन्सट्रोम्ब वेब लेंग्थ से सम्बन्धित है। अत: जो लोग कहते हैं कि रंग एक निश्चित वेव लेंग्थ है, वे संश्लेषणात्मक परिभाषा को विश्लेषणात्मक परिभाषा मान लेने की भूल करते हैं। ऐसी भूल करना सहज स्वाभाविक है। यदि संश्लेषणात्मक विधि से हमें ज्ञात होता है कि सौन्दर्य वह है जिस पर ध्यान करना अच्छा लगे तो यहाँ हम यह भूलकर बैठते हैं कि वही वस्तु सुन्दर कही जा सकती है जिस पर ध्यान करना अच्छा लगे। तीसरे, संश्लेषणात्मक परिभाषा में जननात्मक दोष (Genetic fallacy) भी है। वह किसी मनुष्य को परिभाषित करने के लिए उसे बच्चा मानती है और उसके माता-पिता के माध्यम से उसको परिभाषित करती है जबकि आवश्यक यह है कि वह जैसा है वैसा उसको परिभाषित किया जाय। इन दोषों के कारण कुछ लोग संश्लेषणात्मक परिभाषा को परिभाषा ही नहीं मानते हैं। उदाहरण के लिए, लाक कहते हैं कि फ्यूलीमार्टी (Feuille morty) पतझड़ में झड़ी हुई पत्तियों का रंग है, यह फ्यूलीमार्टी की परिभाषा नहीं है, यद्यपि यह संश्लेषणात्मक परिभाषा है। परन्तु डब्लू० ई० जान्सन कहते हैं कि तर्कशास्त्र और गणित की सभी परिभाषाएँ संश्लेषणात्मक हैं और वे विश्लेषणात्मक कहीं नहीं हैं। इस मत को बर्ट्रेण्ड रसेल ने भी अपनी पुस्तक 'द प्रिन्सिपुल्स आफ मैथमेटिक्स' में स्वीकार किया है। सी० आई० लेविस इसे वर्णन द्वारा परिभाषा कहते हैं। संश्लेषणात्मक परिभाषा के आलोचक परिभाषा के द्वारा किसी वस्तु का सर्वप्रथम होने वाला ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु यह कार्य शाब्दिक परिभाषा का नहीं है बल्कि वास्तविक परिभाषा का है। अतएव रिचर्ड राबिन्सन ने ठीक ही कहा है कि शाब्दिक परिभाषा के लिए संश्लेषणात्मक विधि निश्चित रूप से उपयोगी है।[२]

(दद) आपादन-विधि—इस विधि को समझने के लिए निम्नलिखित वाक्य को लिया जा सकता है। वर्गाकार आकृति में दो कर्ण होते हैं और प्रत्येक कर्ण वर्गाकार आकृति को दो समकोण समद्विबाहु त्रिभुजों में विभाजित करता है। यहाँ कर्ण की परिभाषा दी गयी है और इसे आपादन-विधि द्वारा परिभाषा कहा जाता है। यह विधि अन्य विधियों से दो प्रकार से भिन्न है। पहला, अन्य विधियाँ परिभाष्य पद का नामोल्लेख करती है, किन्तु आपादन-विधि उसका नामोल्लेख (*Mention*) न करके उसका प्रयोग (use) करती है। इसलिए इसको समझने के लिए नामोल्लेख और शब्द-प्रयोग का अन्तर समझना है। यदि हम कहते हैं कि मानव बुद्धिमान् प्राणी है तो हम वास्तव में यह कहते हैं कि 'मानव' शब्द का अर्थ 'बुद्धिमान् प्राणी' यह शब्द है और साथ ही मानव का प्रयोग भी करते हैं इस प्रकार यह

नामोल्लेख और शब्द-प्रयोग दोनों है । इस परिभाषा मे 'मानव' शब्द का प्रयोग और नामोल्लेख दोनो है । इसलिए नामोल्लेख और शब्द-प्रयोग मे घपला हो जाता है । परन्तु जब हम कहते है कि 'मानव' मे तीन अक्षर है, तो यहाँ हम मानव का शब्द-प्रयोग नही कर रहे है किन्तु मानव का नामोल्लेख कर रहे है । नामोल्लेख प्राय 'इनवर्टेट कामा' (उद्धरण-चिह्न) मे रखा जाता है । आपादन-विधि से जब परिभाषा की जाती है तो उसमें नामोल्लेख नही होता है । उपर्युक्त उदाहरण मे कर्ण शब्द का नामोल्लेख नही किया गया है, किन्तु उसका शाब्दिक प्रयोग किया गया है । दूसरे, अन्य विधियो मे जो परिभाषा होती है वह समीकरण या समरूप पदावली होती है, किन्तु आपादन-विधि से की गई परिभाषा समीकरण नही होती है ।

किन्तु आपादनात्मक परिभाषा संश्लेषणात्मक परिभाषा से सम्बन्धित रहती है और उसे प्राय. संश्लेषणात्मक परिभाषा मे रखा भी जा सकता है ।

(८६) **निर्देशात्मक विधि** । प्राय कहा जाता है कि परिभाषाएँ व्यर्थ है, क्योकि मनुष्य परिभाषाओ द्वारा नही सीखता है । उदाहरण के लिए, चिडिया पख-सहित कशेरुकी (वर्टीब्रेटा) है, यह चिड़िया की परिभाषा है, किन्तु इससे कोई मनुष्य चिडिया को नही समझता है । कौवा चिड़िया है, कोयल चिड़िया है, कबूतर चिडिया है, गौरैया चिडिया है, आदि वाक्यो से मनुष्य समझते है कि चिड़िया क्या है ? इन उदाहरणो से चिड़िया को समझना भी वास्तव मे एक प्रकार की परिभाषा है जिसे निर्देशात्मक परिभाषा कहा जाता है । इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणो से वास्तव मे यह सिद्ध होता है कि 'चिड़िया' पद कौवा, कोयल आदि को निर्दिष्ट करता है । उदाहरणों स किसी पद को परिभाषित करना परिभाषा की निर्देशात्मक विधि है ।

किन्तु जैसा कि प्रो० सी० आई० लेविस कहते हैं, निर्देशात्मक परिभाषा निर्णायक नही होती है, क्योकि उदाहरणो का कोई भी समूह पर्याप्त नही होता है । पुनश्च व्यावहारिक जीवन मे कोई शब्द जैसे कौवा, कोयल आदि चिड़िया के परिचायक तभी होते हैं जबकि पहले से सुनने वाले के मन मे चिड़िया का प्रत्यय हो, क्योकि इन उदाहरणो से वह चिड़िया सामान्य का निष्कर्ष निकालता है । अतएव निर्देशात्मक विधि स्वतः पर्याप्त नहीं है । फिर बहुत से शब्द हैं जिनको उदाहरण देकर निर्देशात्मक रूप से परिभाषित नही किया जा सकता, जैसे करोड़, लक्ष आदि । इन कमियों के होते हुए भी निर्देशात्मक परिभाषा उपयोगी है । रिचर्ड राबिन्सन कहते है कि 'रोमैंटिक' शब्द का जो साहित्यिक अर्थ है उसकी सभी कारगर परिभाषाएँ निर्देशात्मक ही हैं और उनकी परिभाषा पर्याय-विधि,

विश्लेषण-विधि या संश्लेषण-विधि के द्वारा नहीं की जा सकती है[3]। इस प्रकार ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ निर्देशात्मक परिभाषा वाञ्छनीय और आवश्यक है[4]।

वास्तव में किसी शब्द के दो अर्थ होते हैं जिन्हें जॉन स्टूअर्ट मिल ने निर्देशात्मक अर्थ (Denotative Meaning) और गुणार्थक अर्थ कहा है। उनके पहले उन्हें विस्तार (Extension) और स्वगुण (Intention) कहा जाता था। कुछ लोग उन्हें आजकल क्रमशः परिसर (Range) और गहनता (Depth) भी कहते है। निर्देशात्मक अर्थ उस विषय को इंगित करता है या उसका उदाहरण देता है जिसके लिए कोई पद व्यवहृत होता है। और किसी विषय का गुण बताना उसकी गुणार्थक परिभाषा है। उदाहरण के लिए, राम, श्याम, शंकर मनुष्य है। इस प्रकार मनुष्य का उदाहरण देना मनुष्य की निर्देशात्मक परिभाषा है और मनुष्य को बुद्धिमान पशु कहना उसकी गुणार्थक परिभाषा है। मिल के अनुसार व्यक्ति-वाचक नामों की केवल निर्देशात्मक परिभाषा दी जा सकती है और भाववाचक संज्ञाओं की केवल गुणार्थक परिभाषा की जाती है। परन्तु तर्कशास्त्र में मिल के इस मत का विकल्प भी मौजूद है और अनेक तर्कशास्त्रियों ने माना है कि व्यक्ति वाचक नामों के भी गुण होते है। अतएव उनकी भी गुणार्थक परिभाषा संभव है। कुछ भी हो, गुणार्थक परिभाषा निर्देशात्मक परिभाषा से अधिक निश्चित और उपादेय होती है।

(८०) **संकेतात्मक परिभाषा**। अभी तक जिन पाँच विधियों का वर्णन किया गया है वे किसी पद की परिभाषा अन्य पदों से करती है, किन्तु जो बालक किसी पद से परिचित नहीं है उसके लिए वे विधियाँ व्यर्थ है। उसके लिए जो परिभाषा-विधि उपयोगी है वह मुख्यतः संकेतात्मक है। जब हम बालक को एक सेब दिखाते है और कहते है कि यह सेब है तो यह सेब की संकेतात्मक परिभाषा है। इसी प्रकार यह रमेश है (रमेश की ओर इशारा करके), यह एक इंच है (दो अंगुली दिखाकर), यह संकेतात्मक परिभाषा के अन्य उदाहरण है। इसको सबसे पहले डब्लु० ई० जान्सन ने सुझाया था। परिभाषा-सिद्धान्त में उनके दो बड़े योगदान है। एक, संश्लेषण-विधि द्वारा परिभाषा और दूसरा संकेतात्मक विधि-द्वारा परिभाषा करना। दूसरी विधि निर्देशात्मक विधि से कुछ मिलती-जुलती है क्योंकि दोनों विधियों में उदाहरणों का प्रयोग किया जाता है और उनके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु का संदर्भ दिया जाता है। किन्तु इन दोनो विधियों में निम्नलिखित अंतर भी है। पहला, निर्देशात्मक विधि केवल शब्दों का प्रयोग करती है जबकि संकेतात्मक विधि संकेतों और चेष्टाओं द्वारा वस्तु को भी प्रत्यक्ष कराती है। दूसरा निर्देशात्मक विधि जिन शब्दों का प्रयोग करती है वे सत्तावाचक नहीं है

किन्तु संकेत विधि में यह, वह, इन संकेतवाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। तीसरा, निर्देशात्मक विधि में अर्थ का सामान्यीकरण करना पड़ता है और उसके लिए एक से अधिक उदाहरणों की आवश्यकता पड़ती है जबकि संकेत-विधि में ऐसे सामान्यीकरण की आवश्यकता नहीं है, और एक उदाहरण में परिभाष्य का ज्ञान हो जाता है।

राबिन्सन ने संकेत-विधि की छः उपविधियां बतायी हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्यक्ष के विषयों का नामकरण करना।

(२) नये शब्द को मात्र कहकर परिभाषित करना जिस समय श्रोता उनके अर्थों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता हो।

(३) शब्द को कहकर और उनके अर्थ की ओर अंगुलि-निर्देश करके उसे परिभाषित करना।

(४) यह, यहाँ, अब आज, वह आदि सूचक (Indexical) शब्दों का प्रयोग करके विषय का बोध कराना। ऐसे संकेतवाचक शब्दों के अर्थ और संदर्भ बदलते रहते हैं।

(५) संकेतवाचक पदों का प्रयोग करना, उनके अर्थों की अनुपस्थिति में तथा बिना चेष्टाओं के। जैसे कलमदान वही वस्तु है जिसे आपने कल मेरे अध्ययन-कक्ष की मेज पर देखा था। यहाँ "आपने", "कल" और "मेज" संकेतवाचक शब्द हैं और कलमदान अनुपस्थित है फिर भी यह परिभाषा संकेतात्मक है।

(६) जब किसी शब्द के अर्थ का चित्र बनाकर उसको परिभाषित किया जाता है तब वह परिभाषा भी संकेतात्मक होती है[५]।

पैस्कल मानते हैं कि वस्तु के साथ शब्द का निश्चित सम्बन्ध रहता है जिसे प्रकृति या ईश्वर ने निर्धारित किया है। जब वे ऐसा कहते हैं तब वे संकेतात्मक परिभाषा को भाषा तथा वास्तविकता का संबंध मानते हैं। इस दृष्टि से तत्त्व-मीमांसा और ज्ञानमीमांसा के लिए संकेतात्मक परिभाषा का महत्त्व बढ़ जाता है। किन्तु यहाँ तार्किक भाववादी मानते हैं कि संकेतात्मक परिभाषा किसी भाषा-बाह्य अर्थ को नहीं बताती है। उदाहरण के लिए, रुडोल्फ कार्नप कहते हैं कि संकेतात्मक परिभाषाएं शब्दों के अनुवाद हैं, जैसे हाथी की संकेतात्मक परिभाषा ऐसा अनुवाद का एक नियम बताता है। हाथी किसी देश-काल में स्थित इस या उस पशु के प्रकार का पशु है। पुनः ए० जे० एअर कहते हैं कि संकेतात्मक परिभाषा प्रचार के लिए तकत अनिवार्य नहीं हैं क्योंकि यह तकन सीखा जा सकता है

के लोग शब्दों का शुद्ध प्रयोग करें, उनका अर्थ समझे और ऐसा करने मे सीखने की कोई प्रक्रिया न हो[६]। जब भाषा अधिक विकसित हो जाती है और-उसका मानक रूप निखर आता है तो फिर आदिम भाषिक व्यवहार को जो संकेतात्मक परिभाषा में देखा जाता है, हटाया जा सकता है। इस प्रकार संकेतात्मक परिभाषा आदिम भाषिक व्यवहार है। उसकी समीचीनता का स्तर निम्न है। विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक परिभाषाएँ उससे अधिक समीचीन हैं। मानक भाषा मे वे संकेतात्मक परिभाषाओ को हटा भी देती है। प्रो० वाइजमन इस प्रसंग में प्रश्न करते है कि क्या संकेतात्मक परिभाषा प्रत्येक भाषा मे अनिवार्यतः होती है? इसका उत्तर उन्होंने मूक मनुष्यो के संकेतों और चित्र-भाषाओ तथा नृत्य-भाषा का विश्लेषण करते हुए दिया कि संकेतात्मक परिभाषा सभी भाषाओं के लिए आवश्यक नही है, वह कुछ विशेष प्रकार की भाषाओं के लिए ही आवश्यक है[७]। इन सबका विचार करते हुए राबिन्सन कहते है कि हम जिन तमाम शब्दो की संकेतात्मक परिभाषाएँ देते है, वे सभी आवश्यक नही हैं, किन्तु उनमें से कुछ अवश्य आवश्यक है। उदाहरण के लिए, कहा जाता है कि हम नीलवर्ण और किसी व्यक्ति विशेष को संकेतात्मक परिभाषा से ही जान सकते है। परन्तु ऐसी बात नही है। हम जूलियस सीजर को जान सकते है यद्यपि उसको हम संकेतात्मक परिभाषा द्वारा नहीं जान सकते है क्योंकि वह हमारे सामने आज उपस्थित नहीं हो सकता है। इसी प्रकार हम पीतवर्ण को जान सकते है, बिना किसी पीली वस्तु का साक्षात्कार किये हुए, क्योकि पीतवर्ण स्पेक्ट्रम (Spectrum) मे हरे और नारंगी रंग के बीच में हैं। परन्तु इन दोनो उदाहरणो से यह सिद्ध नही होता कि संकेतात्मक परिभाषा का पूर्ण निराकरण किया जा सकता है। हमे कम-से-कम एक रंग का और कम-से-कम एक मनुष्य का ज्ञान सर्वप्रथम संकेतात्मक परिभाषा द्वारा होना चाहिए, तभी हम अपने विकसित ज्ञान के आधार पर जूलियस सीजर जैसे ऐतिहासिक पुरुषों को और पीतवर्ण जैसे रंगो को जान सकते हैं। इस प्रकार संकेतात्मक परिभाषा का क्षेत्र संकीर्ण हो जाता है, किन्तु वह न तो निराकृत होती है न निरवकाश होती है। उसका कुछ-न-कुछ क्षेत्र अवश्य बना रहता है।

इस प्रसंग में एफ० वाइजमन कहते है कि संकेतात्मक परिभाषा में एक विशेष मानसिक क्रिया होती है जो विभिन्न भाषाओ के प्रयोग-कर्ताओ के ऊपर विभिन्न प्रभाव डालती है, क्योकि शब्द और संकेत विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त होते हैं। वे कहते हैं कि जिस संदर्भ या परिस्थिति मे संकेतात्मक परिभाषा दी जाती है, उसमे केवल संकेत ही अर्थ का निर्धारण नही करता बल्कि अर्थ का वह सम्पूर्ण मंडल Aura) उसका निर्धारण करता है जो [८] परिभाषा को घेरे रहता है,

तथा इस मंडल में शब्द, संकेत, नियम, रूपान्तरण और शब्द-प्रयोग रहते हैं। ये सभी संकेतात्मक परिभाषा में भाषा की सीमाओं को पार करते हुए भाषा और वास्तविकता का संबंध स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं[9]। वाइजमन के मत में ध्वनि, संकेत और विषय स्वयं संकेतात्मक परिभाषा का निर्माण नहीं करते, किन्तु ये तत्त्व-बुद्धि के व्यापार के साथ मिलकर संकेतात्मक भाषा के घटक होते हैं[10]। संकेतात्मक परिभाषा कभी कोई असयुक्त क्रिया नहीं होती है, अपितु शब्द के अग्रिम प्रयोग की तैयारी है। वाइजमन और आगे जाकर संकेतात्मक परिभाषा की तीन अवस्थाएँ बताते हैं। पहली प्राथमिक अवस्था है जिसमें हम धन, स्तम्भ तथा एक, दो, तीन आदि गिनतियों को इसके द्वारा जानते हैं। दूसरी अवस्था में हम आकार, रंग, संख्या आदि को जानते हैं जो प्रथम स्तर के सम्प्रत्यय हैं। तीसरी अवस्था में हम द्वितीय स्तर के प्रत्ययों को जानते हैं जो संकेतात्मक परिभाषा को संक्षिप्त करते हैं[11]।

(६१) **नियम-निर्धारक विधि**। अभी तक हम जिन विधियों का विचार कर रहे थे उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है और उस निश्चित अर्थ को स्पष्ट करने की ये विधियाँ हैं। किन्तु बहुत-से ऐसे शब्द हैं जिनका एक अर्थ नहीं होता, उदाहरण के लिए, कुक विल्सन ने कहा कि सोचना (Thinking) किसी एक वस्तु, विषय या प्रक्रिया का नाम नहीं है, इसमें कई प्रकार के विषय मिलते हैं, और उन सभी वस्तुओं में सामान्य अंग भी नहीं है। जानना, विस्मय करना, राय देना, अनुमान करना आदि सभी सोचना के अन्तर्गत है। इसी प्रकार अरस्तू ने कहा कि सत् किसी एक वस्तु का नाम नहीं है और वह सभी पदार्थों पर लागू होता है। ऐसे ही कणाद मानते हैं कि सत् कोई एक पदार्थ नहीं है और वह द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन सबके लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। ऐसे ही विलियम जेम्स ने कहा कि सत्य किसी एक वस्तु, विषय या गुण का नाम नहीं है बल्कि जैसे 'स्वास्थ्य' शब्द जिन अनेक परि-स्थितियों पर निर्भर है, उनका वाचक है वैसे सत्य भी जिन अनेक परिस्थितियों पर निर्भर है उनका वह वाचक है। ऐसे शब्द अनेकार्थक भी नहीं हैं। इसलिए प्रश्न उठता है कि ऐसे शब्दों की परिभाषा कैसे की जाय? यहाँ राबिन्सन कहते हैं कि ऐसे शब्द व्यवस्थित पद हैं अर्थात् उन पदों का अर्थ एक व्यवस्था से निष्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, 'सत्' शब्द का प्रयोग अरस्तू के अनुसार पदार्थों की व्यवस्था के किसी सदस्य के लिए होता है। कुक विल्सन के अनुसार 'सोचना' शब्द का प्रयोग चेतना के किसी प्रकार के लिए होता है। ऐसे ही 'भारतीय नागरिक' शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता है जो भारतीय संविधान की के

अनुसार मताधिकार प्राप्त व्यक्ति है। ऐसे उदाहरणों में जो परिभाषा दी जाती है उसकी विधि नियम-निर्धारक विधि कही जाती है। ऊपर जिन शब्दों का उल्लेख किया गया है उनका प्रयोग एक नियम के अनुसार होता है। सामान्य परिभाषाएं इस नियम को मानकर चलती है कि वे किसी वस्तु के नाम है। यह नियम उनमे छिपा रहता है किन्तु वह संकेतित नहीं होता है। नियम-निर्धारक विधि के द्वारा जो परिभाषा दी जाती है उसमे भी नियम छिपा रहता, परन्तु वह संकेतित भी हो जाता है। यही उसका वैशिष्ट्य है।

(६८) **आवर्ती परिभाषा।** राबिन्सन द्वारा चर्चित उपर्युक्त सात विधियों मे हम दो विधियों को और जोड़ना चाहते है, क्योंकि उनका प्रयोग समकालीन दर्शन और तर्कशास्त्र मे विशेषरूप से हो रहा है। ये विधियाँ आवर्ती परिभाषा (Recursive Definition) और प्रेरक परिभाषा (Persuasive Definition) हैं। आवर्ती-परिभाषा नियम-निर्धारक विधि से मिलती-जुलती है, परन्तु चूँकि इसमे नियम परिभाषक मे वर्णित रहता हैं इसलिए यह नियम-निर्धारक विधि से भिन्न है। जब परिभाषक परिभाष्य की पहचान के अतिरिक्त उस पहचान का नियम भी बतावे तब वह परिभाषा आवर्ती कही जाती है। आवर्ती परिभाषा पहले परिभाष्य के वर्ग का उदाहरण देती है और फिर एक नियम बताती है जिसके द्वारा और अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। उदाहरण के लिए, रोजर्स सिस्टम (R. S System) मे वेल फार्म्ड फारमूला (*Well formed formula*) की जो परिभाषा दी जाती है वह आवर्ती (Recursive) है। उसमें तीन वाक्य है—

(क) कोई प्रतिज्ञप्ति-सूचक प्रतीक वेल फार्म्ड फारमूला है जैसे य, र।

(ख) यदि फारमूला य वेल फार्म्ड फारमूला है तो ~(य) एक वेल फार्म्ड फारमूला है।

(ग) यदि य और र दोनों वेल फार्म्ड फारमूला हैं तो (य) (र) एक वेल फार्म्ड फारमूला है।

यहाँ (क) परिभाष्य का उदाहरण देता है और (ख) तथा (ग) नियम देते है जिनसे परिभाष्य के अनेक उदाहरण निकलते है।

इस परिभाषा के आधार पर ~(य).~(र) वेल फार्म्ड फारमूला है। इसके आधार पर अनेक ऐसे फारमूले बनाये जा सकते है। और, जो वेल फार्म्ड फारमूला नहीं है उनको भी छाँटा भी जा सकता है।

इसी प्रकार टार्स्की ने सत्यता की आवर्ती परिभाषा दी है। संक्षेप में उसे यों रखा जा सकता है। मान लीजिए एक ऐसी भाषा भ है जिसमे केवल निम्न-लिखित दो वाक्य हैं

(२) बर्फ सफेद है।
(३) घास हरी है।

फिर मान लीजिए भ में केवल निम्नलिखित संयोजक है—'अथवा' और "यह बात नहीं है कि"। पहला संयोजक दो वाक्यों के बीच में लगता है और दूसरा संयोजक किसी वाक्य के पहले लगता है।

अब भ भाषा के किसी सत्य वाक्य की परिभाषा निम्न प्रकार से दी जा सकती है—

(१) 'बर्फ सफेद है', यह सत्य वाक्य है यदि और केवल यदि बर्फ सफेद है तथा 'घास हरी है', यह सत्य है, यदि और केवल यदि घास हरी है।

(२) यह बात नहीं है कि व, वह वाक्य सत्य है यदि और केवल यदि व (जो एक वाक्य है) सत्य नहीं है।

(३) $व_1$ अथवा $व_2$, यह वाक्य सत्य है यदि और केवल यदि या तो $व_1$ सत्य है या $व_2$ सत्य है।

यहाँ भ भाषा के सभी साधारण वाक्यों की सत्यता को गिनाया गया है। फिर संयोजकों की सत्यता की अवस्था को बताया गया है। उस सम्पूर्ण वर्णन में ही सत्यता की परिभाषा कर दी गई है। टार्स्की ने इस परिभाषा में माना है कि सत्यता वाक्य की होती और वाक्य किसी भाषा का अंग होता है, अतः सत्यता का अनिवार्य संबन्ध भाषा से है। फिर उन्होंने माना है कि सत्यता में भी कथन जिस भाषा में किया जाता है वह कथन उस भाषा में प्रयुक्त नहीं होता जिसमें उसका प्रतिपाद्य वाक्य प्रयुक्त होता है। वाक्य का प्रयोग विषय-भाषा में होता है और सत्यता का कथन अभिभाषा (Meta-language) में किया जाता है। सत्यता का निर्धारण करने के लिए भाषा के इन दोनों प्रकारों का स्पष्ट अन्तर करना आवश्यक है।

(६३) **प्रेरक परिभाषा** (Persuasive Definition)। इस परिभाषा को अमेरिका के दार्शनिक सी० एल० स्टीवेन्सन ने सर्वप्रथम एक लेख में और बाद में सन् १९४४ में अपनी पुस्तक "इथिक्स एण्ड लैंग्वेज" में दिया है। प्रो० आई० एम० कोपी ने इसको परिभाषा का एक प्रकार बताया है किन्तु वास्तव में तार्किक दृष्टि से यह परिभाषा की एक विधि है। इसका वर्णन करते हुए प्रो० सी० एल० स्टीवेन्सन लिखते है, "हमारी भाषा में ऐसे बहुत शब्द है जैसे संस्कृति, जिनका वर्णनात्मक अर्थ अस्पष्ट है और भावात्मक अर्थ गहरा है"। उनका वर्णनात्मक अर्थ सदैव पुनर्परिभाषित किया जाता रहता है। शब्द पुरस्कार है जिन्हें प्रत्येक मनुष्य अपनी निजी पसन्द के गुणों पर देता रहता है। प्रेरक परिभाषाओं में वास्तविक या सच्चा —इन शब्दों का प्रयोग प्राय किया जाता है।

चूंकि मनुष्य जिसको सत्य समझते हैं उसको वे प्राय: स्वीकार करते हैं इसलिए सत् या वास्तविक की प्रेरक शक्ति अधिक होती है और उसका अर्थ होता है 'मानने योग्य'। इस परिभाषा के द्वारा श्रोता उस नये अर्थ को स्वीकार्य समझता है जिसे वक्ता प्रस्तुत करता है[१२]। उदाहरण के लिए, जब एडोल्फ हिटलर ने दावा किया कि राष्ट्रीय समाजवाद सच्चा लोकतंत्र है तो उसने लोकतंत्र की एक प्रेरक परिभाषा दी। ऐसे ही जब हम कहते हैं कि वास्तव में संस्कृति का सच्चा अर्थ कल्पनाशील संवेदनशीलता और मौलिकता है तो हम संस्कृति की प्रेरक परिभाषा दे रहे हैं। यहाँ प्रेरक परिभाषा परिभाष्य के भावात्मक अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं करती है, किन्तु वह उसके वर्णनात्मक अर्थ में परिवर्तन ला देती है। नीतिशास्त्र और राजनीति में ऐसी परिभाषाएँ प्रायः दी जाती है। समाजवाद, लोकतंत्र, स्वतंत्रता तथा क्रांति की ऐसी परिभाषाएँ आजकल की जा रही हैं जो बिल्कुल गलत है। जैसे दकियानूसी लोग कहते है कि रामराज्य सच्चा समाजवाद है, साम्यवादी कहते है कि साम्यवाद सच्चा लोकतंत्र है। किन्तु गलत होने पर भी प्रेरक परिभाषाएँ मनोभावों को प्रभावित करती है और परिभाष्य के विपुल अर्थ के एक भाग का उद्घाटन भी करती है। इस कारण प्रेरक परिभाषा शक्तिशाली होती है। किन्तु वे अपर्याप्त है और उनके द्वारा परिभाष्य का पूर्ण बोध नहीं हो सकता है।

(६४) परिभाषा की विधियों का सिंहावलोकन करते हुए राबिन्सन ने कहा है कि प्रत्येक विधि आवश्यक और उपयोगी है। उन्होंने कुछ शब्दों को किसी विशेष विधि के द्वारा ही परिभाषा-योग्य बताया है। पहले, वर्ण-वाचक शब्दों (रंगों के नाम) की परिभाषा संकेत-विधि के द्वारा ही दी जा सकती है। दूसरे, कुछ शब्द, है, जैसे रोमैंटिक, जिनकी परिभाषा निर्देश-विधि के द्वारा ही की जा सकती है। तीसरे, कुछ शब्द है जैसे करोड, लाख जिनकी परिभाषा विश्लेषण विधि के द्वारा ही हो सकती है। चौथे, कुछ शब्द है जैसे मैं, अथवा, आदि जिनकी परिभाषा आपादन-विधि के द्वारा ही की जाती है। पाँचवे, कुछ शब्द हैं जैसे वृत्त जिनकी परिभाषा संकेत-विधि और विश्लेषण-विधि दोनों द्वारा की जाती है। अन्त में पर्याय-विधि के द्वारा केवल मृत शब्दों की ही परिभाषा दी जाती है क्योंकि जीवित शब्द के हूबहू पर्याय नहीं होते हैं। इस प्रसंग में राबिन्सन कहते हैं कि संभवत ऐसे शब्द नहीं है जो केवल नियम-निर्धारक विधि द्वारा या केवल संश्लेषण-विधि द्वारा परिभाषित किये जायँ[१३]।

उपसंहार में कहा जा सकता है कि परिभाषा की विधियों के आधार पर पदों का वर्गीकरण करना उचित नहीं है बहुत कम शब्द हैं जिनकी परिभाषा

केवल किसी एक विधि के द्वारा ही हो सकती है । सामान्यत. सभी विधियाँ व्यवहार में प्रयुक्त होती है और वे जिन पदों की परिभाषा करती हैं उन पर उनका एकाधिकार नहीं है । किसी पद की परिभाषा कई विधियों के द्वारा की जा सकती है ।

परिभाषा की विधियों से स्पष्ट है कि सभी परिभाषाएँ समीकरण नही है । आपादनात्मक परिभाषा, निर्देशात्मक परिभाषा, संकेतात्मक परिभाषा, नियमनिर्धारिक परिभाषा और रिकर्सिव (आवर्ती) परिभाषा समीकरण नही है । इसलिए उनका निरूपण परिभाष्य-परिभाषक के माडेल पर नहीं किया जा सकता । वैसे शब्द-वस्तु-प्रकारक जितनी परिभाषाएँ हैं वे सभी समीकरण नहीं है बल्कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को प्रकट करने वाली है । केवल शब्द-शब्द प्रकारक परिभाषाएँ समीकरण है ।

अत समीकरण न होने के कारण बहुत-सी परिभाषाओ की कसौटी प्रतिस्थापनीयता या निराकरणीयता नही है जिसको एस० लेम्नीवस्की ने प्रतिपादित किया है । यह केवल उन्ही परिभाषाओं की कसौटी है जो समीकरण है अर्थात् जहाँ परिभाषक और परिभाष्य दोनों समतुल्य है ।

संदर्भ और टिप्पणी

१ तर्कशास्त्र का परिचय, इरविंग एम० कोपी, हिन्दी अनुवाद प्रो० संगमलाल पाण्डेय और गोरखनाथ मिश्र, पृ० १०४ ।

२ Definition, Richard Robinson, Oxford, 1954, p, 106.

३ वही पृ० ११४ ।

४ वही पृ० ११७ ।

५ दे० वही पृ० ११८-११९ ।

६ The Foundation of Empirical Knowledge, A. J. Ayer, p. 94.

७ The Principles of Linguistic Philosophy, F Waismann, p. 107-108.

८ वही पृ० २१९ ।

९ वही पृ० २१९ ।

१० वही पृ० २१७ ।

११ वही पृ० १०६ ।

१२ Ethics And Language, C L Stevenson, p. 2 3.

१३ रिचर्ड राबिन्सन का उद्धृत ग्रन्थ पृ० १२१ ।

8

विश्लेषण और परिभाषा

विश्लेषणात्मक दर्शन का इतिहास

(८५) यद्यपि दार्शनिक विश्लेषण किसी-न-किसी रूप में दार्शनिक क्रिया के साथ प्राचीन काल से ही जुड़ा है तथापि वही एक मात्र दार्शनिक पद्धति है, इस विचार का प्रचार जब से हुआ तब से दार्शनिक विश्लेषण के इतिहास का आरम्भ माना जाता है। इस विचार के प्रवर्तक तथा प्रचारक को विश्लेषणात्मक दार्शनिक कहा जाता है। इसका उद्भव रसेल ने १९०३ और १९०५ में क्रमशः 'प्रिन्सिपुल्स आफ मैथमैटिक्स' नामक ग्रन्थ और 'ऑन डिनोटिंग' नामक निबन्ध लिखकर किया। ठीक इसी समय १९०३ में जी० ई० मूर ने 'रिफ्यूटेशन आफ आइडियालिज्म (Refutation of Idealism) नामक निबन्ध लिखकर इस पद्धति को जन्म दिया। इस प्रकार दार्शनिक विश्लेषण के जन्मदाता इंग्लैण्ड के दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल और जार्ज एडवर्ड मूर हैं। १९०३ और १९३५ के बीच इसके मुख्य व्याख्याता लुडविग विट्गेन्स्टाइन, सुसान स्टेबिंग, जॉन विजडम और गिलबर्ट राइल थे। ये भी इंग्लैण्ड के दार्शनिक थे। किन्तु इसका विशेष उत्थान और प्रचार वियना सर्किल ने किया। १९२२ से लेकर १९५० तक अर्थात् वियना सर्किल की स्थापना से लेकर सी० जी० हेम्पेल के एक निबन्ध (Problems and Changes in the Empiricist Criterion of Meaning) के प्रकाशन तक तार्किक भाववाद का जीवन-काल माना जाता है। वियना सरकिल ने ही दार्शनिक विश्लेषण को आगे बढ़ाया। जिन तार्किक भाववादियों ने दार्शनिक विश्लेषण को अपने योगदानों से विशेष महत्त्वपूर्ण बनाया है उनमें रूडोल्फ कार्नप और ए० जे० एअर मुख्य हैं। किन्तु तार्किक भाववाद की समाप्ति के साथ ही दार्शनिक विश्लेषण की भी इतिश्री हो गयी। जॉन विजडम, गिलबर्ट राइल और लुडविग विट्गेन्स्टाइन अपने आरम्भिक जीवन में विश्लेषण-दार्शनिक थे, किन्तु उन्होंने आगे चलकर इस विचारधारा का खण्डन किया कि विश्लेषण दर्शन-शास्त्र की एकमात्र उपयुक्त पद्धति है। इन तीनों ने अपने उत्तर जीवन में जिस दार्शनिक पद्धति को अपनाया उसे भाषिक विश्लेषण या सामान्य भाषा का विश्लेषण कहा जाता है। इन लोगों का ध्यान परिभाषा, अन्तर्भाव या अनुवाद से हटकर वर्णन की ओर चला गया वे विश्लेषण को छोड़कर स्पष्टीकरण करने लगे और अर्थ Meaning के स्थान पर प्रयोग Use की खोज

करने लगे । इस प्रकार दार्शनिक विश्लेषण का अन्त हो गया । जॉन आस्टिन और पी० एफ० स्ट्रासन ने भी उसको समाप्त करने मे अपना योगदान दिया । इस प्रकार मोटे तौर से १९०० से लेकर १९५० तक इग्लैण्ड के प्रमुख दार्शनिकों की दार्शनिक पद्धति एकमात्र दार्शनिक विश्लेषण थी । चूँकि इस पद्धति का जन्म कैम्ब्रिज मे हुआ था इसलिए इसे कैम्ब्रिज फिलासफी या कैम्ब्रिज विश्लेषण भी कहा जाता है । किन्तु इसका प्रभाव कैम्ब्रिज के अतिरिक्त आक्सफोर्ड, वियना, लन्दन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयो पर भी पड़ा । यह बीसवी शती के प्रथमार्ध की सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक प्रणाली है ।

अब चूँकि इसके उत्थान और पतन दोनो हो गये है इसलिए इसका निरूपण और मूल्यांकन आसानी से किया जा सकता है ।

(६६) सर्वप्रथम, दार्शनिक विश्लेषण को समझने के लिए इसको दो दार्शनिक विधियो से भिन्न किया जाना चाहिए । एक, प्रत्ययवादी विधि है जो इसके पहले प्रचलित थी और जिसके विरोध मे रसेल और मूर ने दार्शनिक विश्लेषण को जन्म दिया था । और, दूसरी विधि सामान्य भाषा-विश्लेषण की विधि है जिसने दार्शनिक विश्लेषण का खण्डन किया, उसे समाप्त किया और जो आज भी प्रचलित है । प्रत्ययवाद मे दार्शनिक विश्लेषणो को भिन्न करते हुए रसेल और मूर ने बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया था अर्थात् उनके मत से बाह्य जगत् मन मे या चेतना से स्वतन्त्र है । उन्होने प्रत्ययवादियो के आन्तरिक सम्बन्ध के स्थान पर बाह्य सम्बन्ध के सिद्धान्त को अग्रसर किया और माना कि सत्ता कोई अपरोक्ष अनुभव नही है अपितु इन्द्रिय-अनुभव से जो विविधता ज्ञात होती है उससे युक्त जगत् है । आरम्भ मे रसेल और मूर ने ब्रैडले और बर्गसां के प्रातिभ ज्ञान या अपरोक्ष अनुभव का खण्डन किया और सिद्ध किया कि जगत् मे जड और चेतन दोनो पृथक्-पृथक् पदार्थ है तथा दोनो का ऐक्य या अभेद असम्भव है ।

पुनश्च दार्शनिक विश्लेषण स्पष्टीकरण से भी भिन्न है । दार्शनिक विश्लेषण मुख्यत परिभाषा या परिष्कार है, किन्तु स्पष्टीकरण एक क्रिया है । दार्शनिक विश्लेषण एक आदर्श भाषा को मानता है, किन्तु स्पष्टीकरण उसका खण्डन करता है और बोलचाल की भाषा को ही विश्लेषित करता है । दार्शनिक विश्लेषण अर्थ का विश्लेषण है और स्पष्टीकरण शब्द-प्रयोग का उद्घाटन है ।

दार्शनिक विश्लेषण मानता है कि भाषा अनिवार्यत जगत् का चित्रण करती है और अर्थ वास्तव मे विषय है जिनके नामकरणो की राशि को भाषा कहा जाता है । किन्तु स्पष्टीकरण चित्र-सिद्धान्त का खण्डन करता है और मानता है कि भाषा का व्यापार चित्रण करना ही नहीं वरन् आदेश देना, भाव प्रकट करना, प्रार्थना करना, नियम बनाना आदि भी है ।[२] इतना ही नहीं, दार्शनिक विश्लेषण मानता है कि

अर्थ शब्दों और विषयो का एक सम्बन्ध है, किन्तु सामान्य भाषा के दार्शनिक मानते है कि अर्थ नियम, उपनियम, अभिसमय (Convention) और आदत (Habit) है जो शब्द-प्रयोग को अनुशासित करते है। इस प्रकार जैसे दार्शनिक विश्लेषण कालत. प्रत्ययवाद और सामान्य भाषा-दर्शन के बीच मे उत्पन्न हुआ और बढ़ा उसी प्रकार वह इन दोनो दार्शनिक विधियो से सिद्धान्तत' भिन्न भी रहा। किन्तु यह भिन्नता उसका स्थूल परिचय ही देती है। उसके सूक्ष्म परिचय के लिए हमे उन दार्शनिकों के मुख्य सिद्धान्तो को समझना है जिन्होने दार्शनिक विश्लेषण-पद्धति को विकसित किया है।

(६७) **रसेल का विश्लेषण**। दार्शनिक विश्लेषण का आदर्शरूप सबसे पहले रसेल के "वर्णन-सिद्धान्त" मे सबसे अधिक निखर कर आया है। इस सिद्धान्त के अनुसार वेवरली का लेखक स्काट है (The Author of Waverly is Scott) इस वाक्य को निम्नलिखित तीन वाक्यो में विश्लेषित किया जा सकता है[3]—

१—कम-से-कम एक व्यक्ति ने वेवरली लिखा।

२—अधिक-से-अधिक एक व्यक्ति ने वेवरली लिखा।

३—जिसने भी वेवरली लिखा वह स्काट है।

अगर किसी ने वेवरली नही लिखा तो वेवरली का लेखक स्काट है, यह वाक्य निरर्थक हो जाता है। अत उपर्युक्त प्रथम वाक्य इस वाक्य को सार्थक बनाने के लिये आवश्यक है। फिर यदि दो या दो से अधिक व्यक्तियो ने मिलकर वेवरली लिखा तो पुन वेवरली का लेखक स्काट है यह वाक्य निरर्थक हो जाता है। अतएव उपर्युक्त दूसरा वाक्य भी इस वाक्य को सार्थक बनाने के लिए आवश्यक है। अन्त मे जिसने भी वेवरली लिखा वह स्काट है, यह वाक्य भी आवश्यक है क्योकि यह वाक्य स्काट शब्द तथा वेवरली के लेखक इस पद को अभिन्न करता है। इस प्रकार वेवरली का लेखक स्काट है, यह एक साधारण वाक्य नही है, किन्तु उपर्युक्त तीन वाक्यों का समुच्चय है। और वेवरली का लेखक, यह पदावली किसी व्यक्ति का नाम नही है और न किसी व्यक्ति का सकेत ही करती है। अगर यह स्काट का नाम होता तो फिर वेवरली का लेखक स्काट है, यह वाक्य वास्तव में स्काट स्काट है, ऐसा होता। किन्तु स्काट स्काट है, यह वाक्य कोई सूचना नही देता जबकि वेवरली का लेखक स्काट है, यह एक सूचना देता है। अत यह वाक्य पुनर्कथन नही है। इस प्रकार वेवरली का लेखक एक वर्णनात्मक पदावली है और यह एक मिश्र प्रतीक (Complex Symbol) है। स्काट शब्द एक व्यक्ति का नाम है यह एक सामान्य या साधारण प्रतीक Simple Symbol है जो पद किसी

वस्तु का अस्तित्व बताता है वह उस वस्तु का साधारण प्रतीक (Simple Symbol) कहा जाता है। जैसे प्रत्येक नाम ऐसा प्रतीक है। अन्त मे जो पद साधारण प्रतीक (नाम) नही है उसे अपूर्ण प्रतीक (Incomplete Symbol) कहा जाता है।[४] साधारण प्रतीक किसी वस्तु का नाम नही होता है। वह अस्तित्ववाचक नही होता है। जैसे सामान्य मनुष्य की बुद्धि-लब्धि ६० है, इस वाक्य में सामान्य मनुष्य पद एक अपूर्ण प्रतीक है। इस वाक्य का अर्थ इतना है कि यदि सभी मनुष्यों की बुद्धि-लब्धि को सभी मनुष्यों से भाग दिया जाय तो जो भजनफल होगा वह ६० (साठ) होगा। स्पष्टत सामान्य मनुष्य का अर्थ यहाँ कोई मनुष्य विशेष नही है। इस प्रकार वर्णन-सिद्धान्त को सुदृढ करने के लिये अपूर्ण प्रतीक का सिद्धान्त रसेल ने बनाया। इस सिद्धान्त का उपयोग करते हुए उन्होने आगे कहा कि प्रत्येक व्यक्ति-वाचक नाम भी अन्ततोगत्वा एक अपूर्ण प्रतीक है क्योंकि वह भी मात्र वर्णन करता है और किसी वस्तु या व्यक्ति के अस्तित्व का निर्देश नही करता। उदाहरण के लिए, सीजर, नेपोलियन, अशोक, गौतम बुद्ध, शकराचार्य, वाराणसी, गंगा आदि नाम लिये जा सकते है। ये नाम कुछ वर्णनों मे आते है और स्वतन्त्रेण नही प्रयुक्त होते। अत इन्हे कुछ व्यक्तियों के अस्तित्व के वाचक नही कहा जा सकता। इस प्रकार रसेल ने सिद्ध किया कि वास्तव मे सत्ता का निर्देश करने वाला केवल एक शब्द है और वह "यह" (This) है। इस शब्द को छोडकर जितने भी शब्द है वे सभी अपूर्ण प्रतीक है। वे किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध नही कराते है। सभी अपूर्ण प्रतीक विधेय होते है और वे उद्देश्य नहीं हो सकते है। इस प्रकार रसेल ने प्रतिपादित किया कि भाषा सत्ता का बोध नही कराती और उसका कार्य केवल वर्णन करना है।

पुनश्च रसेल ने वर्णन-सिद्धान्त का प्रयोग कुछ दार्शनिक गुत्थियो को सुलझाने के लिए भी किया। उदाहरण के लिए, माइनाग मानते थे कि जब हम कहते है कि वर्गाकार वृत्त असम्भव है तो हम वर्गाकार वृत्त को एक सत्ता प्रदान करते है। इस प्रकार उनके मत मे वर्गाकार वृत्त का अस्तित्व है। किन्तु यह न तो मेज, कुर्सी आदि की तरह का अस्तित्व है और न हमारे मन की कल्पनाओं या मनोरथो की भाँति का अस्तित्व है। रसेल भी आरम्भ मे इसको मानते थे। किन्तु बाद मे उन्होने यहाँ एक अन्तर्विरोध देखा, क्योंकि यहाँ जिसके अस्तित्व का निषेध किया जा रहा है उसे ही सत् भी कहा जा रहा है। यही समस्या प्लेटो के सामने भी थी, जब उन्होने कहा कि असत् की भी एक सत्ता है। इस अन्तर्विरोध को वर्णन-सिद्धान्त से दूर करते हुए रसेल ने कहा कि वर्गाकार वृत्त असम्भव है, इस वाक्य का सीधा अर्थ यह है कि जो वर्ग है वह वृत्त नहीं है या जो वृत्त

है वह वर्ग नहीं है। ऐसा कहने पर अन्तर्विरोध नहीं रहता। अतएव विश्लेषण करने पर अन्तर्विरोध दूर हो जाता है। इसी प्रकार फ्रांस का वर्तमान राजा खल्वाट है या सुमेरु स्वर्णगिरि है, ऐसे वाक्य भी वर्णन-सिद्धान्त के आधार पर यह सिद्ध करते है कि कम-से-कम फ्रान्स का एक वर्तमान राजा है और वह खल्वाट है, तथा कम-से-कम एक पहाड़ है और वह स्वर्ण है। फ्रांस का वर्तमान राजा नहीं है क्योकि फ्रांस मे गणतंत्र है। अतएव उपर्युक्त पहले समुच्चय का एक अंग असत्य होने से पूरा वाक्य असत्य है। फिर कोई ऐसा पहाड़ नहीं है जो स्वर्ण हो अर्थात् पहाड़ स्वर्ण है, यह वाक्य असत्य है, इसलिए दूसरा पूरा समुच्चय वाक्य भी असत्य है। इस प्रकार वर्णन-सिद्धान्त ने लाघव न्याय (Ockam's Razor) का कार्य किया और अनेक वस्तुओं के अस्तित्व को मात्र भ्रमात्मक कथनों पर आधारित बताया। इसके महत्व को आँकते हुए रैमजे ने कहा है कि वर्णन-सिद्धान्त दार्शनिक चिन्तन का आदर्श प्रतिमान है। इस रूप मे दार्शनिक विश्लेषण अर्थ का अनुवाद है जो एक प्रकार की परिभाषा है। वेवरली का लेखक स्काट है, इस वाक्य का विश्लेषण जिन तीन वाक्यों से किया जाता है वे इस वाक्य की परिभाषा है क्योकि परिभाषा का ही कार्य है कि वह परिभाष्य के अर्थ का प्रकारान्तर मे निरूपण करे, उसको ठीक से प्रकाशित करे।

पुनश्च रसेल ने एक और सिद्धान्त द्वारा दार्शनिक विश्लेषण को सुदृढ़तर किया जिसे तार्किक सरचना का सिद्धान्त (Theory of Logical Construction) कहा जाता है। इसको समझाते हुए उन्होने कहा है कि प्रत्येक विषय के बारे मे किया गया कथन वास्तव मे कुछ इन्द्रिय-प्रदत्त कथनों (Sense-Data Statement) से सरचित सघात है। इस पद्धति मे उन्होने जड पदार्थ के वर्णन और मनस्तत्त्व (Mind) के वर्णन का विश्लेषण किया है। इन विश्लेषणों से विश्लेष्य विषयो का रूप उद्घाटित होता है और वे जिन घटकों से निर्मित रहते है उनके सम्बन्ध उभर कर आ जाते है। स्पष्ट है कि यह विश्लेषण वास्तविक परिभाषा (Real Defintion) है जिसे भारतीय दर्शन मे स्वरूप-लक्षण कहा गया है।

अन्त में समीक्षा करने पर पता चलता है कि रसेल के विश्लेषण द्विविध है। एक, तार्किक विश्लेषण है और दूसरा तत्त्वमीमांसक विश्लेषण है। पहला एक अभिव्यक्ति का अन्य अभिव्यक्तियो मे रूपान्तरण या अनुवाद करता है। दूसरा एक अभिव्यक्ति का अन्य अभिव्यक्ति में अन्तर्भाव करता है। अन्तिम का आधार तार्किक अणुवाद है जिसका विवरण आगे विट्गेन्स्टाइन के विश्लेषण के सन्दर्भ मे किया जायेगा क्योंकि उसका स्वरूप उन्होंने आविष्कृत किया है। यहाँ इतना जानना पर्याप्त है कि रसल के अनुसार सीजर ने रूबिकोन को पार किया यह एक मिश्र

वाक्य है। इसका आधार यह आणविक वाक्य है कि इसने उसको पार किया। यह आणविक वाक्य एक मूल तथ्य का चित्रण है। इसको सामान्यीकृत करने पर वाक्य बनता है कि यदि 'क' कोई व्यक्ति है और 'ड' कोई नदी है तो क ने ड को पार किया। फिर इस सामान्य कथन को विशिष्ट सन्दर्भ मे लागू करने पर उसमे क और ड के स्थान पर क्रमश सीजर और रुबिकोन को रख लेने पर वाक्य बनता है सीजर ने रूबिकोन को पार किया जो वास्तव मे एक सामान्य वाक्य का निदर्शन है[५]। इसी प्रकार राम ने गंगा पार किया, यह वाक्य भारतीय दार्शनिक विश्लेषण मे एक सामान्य कथन का निदर्शन माना जा सकता है।

अब विश्लेषण को परिभाषा के दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञात होगा कि वास्तव मे रसेल ने जिस प्रकार का विश्लेषण किया है वह सदैव परिभाषा का एक प्रकार रहा है। उनके विश्लेषण मे कभी वास्तविक परिभाषा मिलती है तो कभी सन्दर्भात्मक परिभाषा। वास्तविक परिभाषा अभाषिक (Non-Linguistic) है और सन्दर्भात्मक परिभाषा भाषिक (Linguistic) है। जब वे अपने ग्रन्थों में स्मृति, काल आदि का विश्लेषण करते है तो वे वास्तव मे सन्दर्भात्मक परिभाषा देते है। उदाहरण के लिए, काल का विश्लेषण करते हुए वे कहते है कि 'यदि घटना 'क' दी हुई है तो प्रत्येक घटना जो पूर्णतया 'क' के समकालिक घटना के अनन्तर है वह पूर्णतया 'क' की कुछ आरम्भिक समकालिक घटनाओं के पूर्णतया अनन्तर होगी।' स्पष्ट है कि यह काल की सन्दर्भात्मक परिभाषा है।

(३८) मूर का विश्लेषण। प्रो० जी० ई० मूर अपने विश्लेषण को समझाते हुए कहते है कि यदि आपको किसी दिये हुए प्रत्यय का विश्लेषण देना है तो वह प्रत्यय विश्लेष्य (Analysandum) है और आपको उसके विश्लेषक (Analysans) के रूप मे एक ऐसे प्रत्यय का वर्णन करना है जिसके बारे मे निम्नलिखित तीन कथन लागू होते है :—

(क) बिना यह जाने कि विश्लेषक अमुक विषय पर लागू होता है, कोई व्यक्ति यह नही जान सकता कि विश्लेष्य उस विषय पर लागू होता है।

(ख) विश्लेषक लागू होता है, इसको बिना प्रमाणित किए कोई यह नही प्रमाणित कर सकता कि विश्लेष्य लागू होता है।

(ग) जो अभिव्यक्ति विश्लेष्य को अभिव्यक्त करती है वह उस अभिव्यक्ति का पर्याय है जो विश्लेषक को अभिव्यक्त करती है।

स्पष्ट है कि मूर के मतानुसार विश्लेषण किसी पद की परिभाषा नही किन्तु प्रत्यय Conc pt या प्रतिज्ञ ति Propo t on की परिभाषा है।

यद्यपि उनका विश्लेषण भाषिक नहीं है तथापि उपर्युक्त शर्त 'ग' के अनुसार उसमें भाषा का प्रयोग निहित है। अपने विश्लेषण का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि 'य' भाई है, इस वाक्य का विश्लेषण है कि 'य पुरुष सहोदर (Sibling) है। यह विश्लेषण उपर्युक्त तीनो शर्तों को पूरा करता है। किन्तु यह विश्लेषण का विरोधाभास भी पैदा करता है। भाई होना और पुरुष सहोदर होना एक ही बात है। यदि यह सत्य है तो यह वाक्य निम्नलिखित वाक्य से अभिन्न हो जायेगा—भाई होना भाई होना है। किन्तु भाई होना भाई होना है, यह वाक्य विश्लेषण नहीं है जबकि भाई होना पुरुष सहोदर होना है यह वाक्य विश्लेषण है। मूर ने स्वीकार किया कि वे इस अन्तर्विरोध का समाधान नहीं कर सकते। किन्तु उन्होने इस बात पर बल दिया कि विश्लेष्य और विश्लेषक दोनों अभिन्न प्रत्यय हैं और दोनो की अभिव्यक्तियों को अवश्यमेव भिन्न होना चाहिए। ये अभिव्यक्तियाँ पर्यायवाची है।

अन्यत्र वे कहते हैं कि य र का भाई है, इस वाक्य का अर्थ होता है य पुरुष और य तथा र के माता या पिता एक ही है। यहाँ दूसरा वाक्य पहले वाक्य का विश्लेषण है और यही सही विश्लेषण है[७]। फिर वे कहते हैं कि य र का कारण है, इस वाक्य का अर्थ है कि य, र के पहले है और जब य जैसी घटना देखी गयी तो यह भी देखा गया है कि उसके अनन्तर 'र' जैसी घटना भी घटी है। यहाँ सी० डी० ब्राड कहते हैं कि कारण का विश्लेषण किया गया है और यह विश्लेषण सही है। किन्तु मूर कहते है कि यद्यपि यह विश्लेषण है तथापि यह सही विश्लेषण नहीं है, क्योंकि पहले वाक्य का अर्थ उतना ही नहीं है जितना दूसरा वाक्य कहता है[८]।

पुनश्च मूर के अनुसार विश्लेषण प्रत्यय का स्पष्टीकरण है, न कि किसी नये तथ्य का अनुसन्धान। फिर वे मानते हैं कि विश्लेषण और दर्शन एक दूसरे से अभिन्न नहीं है और विश्लेषण दर्शन का एक कार्य है। दर्शन के अनेक और कार्य भी हो सकते हैं। इस प्रकार वे उन दार्शनिकों में नहीं है जो दर्शन-विश्लेषण-समीकरण को मानते है।

अपने विश्लेषण को रसेल के विश्लेषण से भिन्न करते हुए मूर कहते हैं कि रसेल का वर्णन-सिद्धान्त किसी प्रत्यय का विश्लेषण नहीं है[९]। वर्णन-सिद्धान्त कहता है जो वस्तु य है वह र है। इस अभिव्यक्ति-प्रकार का अर्थ है कि कम-से-कम एक वस्तु 'क' ऐसी है कि (१) क य है, (२) क को छोड़कर कोई य नहीं है और (३) क र है

अब प्रश्न है कि यहाँ किस प्रत्यय का विश्लेषण किया जा रहा है। उत्तर है—किसी प्रत्यय का नहीं। आप यहाँ केवल एक अभिव्यक्ति-प्रकार का अर्थ दे रहे हैं और किसी ऐसे शब्द का अर्थ नहीं बता रहे हैं जिसका अर्थ कोई प्रत्यय होता है[10]। और भी अपने विश्लेषण को जान्सन द्वारा की गई द्विपदी परिभाषा से भिन्न करते हुए मूर कहते हैं कि पराक्रम का अर्थ साहस है (Valour means courage), यह द्विपदी परिभाषा है यद्यपि इसको परिभाषा कहना गलत है। मूर का विश्लेषण द्विपदी परिभाषा नहीं है। भाई = पुरुष जिसके माँ या बाप एक ही है। यहाँ दायें ओर की अभिव्यक्ति में कई पद हैं और बायें ओर की अभिव्यक्ति में केवल एक पद 'भाई' है। दायें हाथ की पदावली अर्थ का अधिक विस्तार करती है। मूर कहते हैं कि उनका यह विश्लेषण विश्लेषणात्मक परिभाषा (Analytical Definition) है[11]। यदि किसी शब्द या शब्दावली का अर्थ करते हुए कोई ऐसा प्रकथन किया जाता है जो उस शब्दावली की विश्लेषणात्मक परिभाषा है तो वह प्रकथन किसी प्रत्यय का विश्लेषण है बशर्ते कि वह शब्द या शब्दावली किसी प्रत्यय के लिए हो[12]। किन्तु मूर कभी-कभी विश्लेषण का अर्थ विश्लेषणात्मक परिभाषा से भिन्न भी करते हैं। उदाहरण के लिए, 'य र का पिता नहीं है', इस वाक्य का अर्थ है कि कोई आदमी है जिसका पिता य है और जिसकी सन्तान र है। यहाँ दूसरा वाक्य विश्लेषण है किन्तु वह परिभाषा नहीं है। इसी प्रकार मूर विश्लेषण को निर्देशात्मक परिभाषा (Ostensive Definition) से भी भिन्न करते हैं[13]। विश्लेषण एक पद को अर्थतः अन्य पदों में रूपान्तरित करता है, निर्देशात्मक परिभाषा किसी पद को वास्तविक सत्ता से जोड़ती है या उसको सत्ता से सम्बन्धित करती है, न कि पदों में। कुल मिलाकर उनके विश्लेषण को प्रत्ययात्मक परिभाषा कहा जा सकता है। फिर मॉरिस वाइट्ज (Morris Weitz) कहते हैं कि मूर में एक और प्रकार का विश्लेषण पाया जाता है जो प्रत्ययात्मक परिभाषा नहीं है किन्तु वास्तविक परिभाषा है। उदाहरण के लिए, उन्होंने नील, संवेदना, शुभ, इन्द्रिय-प्रदत्त और सम्बन्ध का जो विश्लेषण किया है उसका हम तभी समझ सकते हैं जब हम उसे वास्तविक परिभाषा मानें। यहाँ मूर के विश्लेषण के सन्दर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं :—

(१) मूर के दर्शन में विश्लेषण उतना केन्द्र-स्थानीय नहीं है जितना रसल के दर्शन में, क्योंकि मूर लोकमत और भाषा-विश्लेषण को भी महत्त्व देते हैं।

(२) मूर ने प्रत्ययों का जो विश्लेषण किया है उसका फल स्पष्टीकरण है जिसको समकालीन दर्शन में सामान्य भाषा के दार्शनिक मान रहे हैं। इस प्रकार मूर में अनुभववाद, विश्लेषण और स्पष्टीकरण तीनों धाराएँ मिलती हैं[14]।

(६६) विट्गेन्स्टाइन का विश्लेषण । रसेल ने जो विश्लेषण किया उसके दो प्रकार है । पहला, तार्किक विश्लेषण है और दूसरा तात्विक विश्लेषण (Metaphysical Analysis) । पहला, एक-स्तरीय विश्लेषण (Same Level Analysis) है और दूसरा, नवीन-स्तरीय विश्लेषण (New Level Analysis) है । प्रथम प्रकार का विश्लेषण किसी कथन के तार्किक स्वरूप को उद्घाटित करता है और दूसरे प्रकार का विश्लेषण मूल तथ्यों की ओर जाता है । रसेल ने इन दोनों प्रकार के विश्लेषणों मे घपला किया है और दोनों का आधार तार्किक अणुवाद को माना है । किन्तु वास्तव मे तार्किक अणुवाद केवल दूसरे प्रकार के विश्लेषण का आधार है और वह पहले प्रकार के विश्लेषण का आधार नहीं है । विट्गेन्स्टाइन के ग्रन्थ "ट्रैक्टेटस लाजिको-फिलसाफीकस" मे इस दूसरे प्रकार का विश्लेषण बहुत उभर कर आया है जिसकी प्रशंसा रसेल ने भी की है । इस विश्लेषण के द्वारा किसी मिश्र वाक्य को उसके घटकभूत वाक्यों के सम्बन्ध के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है और माना जाता है कि इस प्रकार की प्रक्रिया से अन्ततोगत्वा ऐसे मूल वाक्य मिलते है जो अविश्लेष्य और अपरिभाष्य होते है । ऐसे वाक्यों को विट्गेन्स्टाइन ने मूल वाक्य (Elementary Proposition) कहा और इनके अतिरिक्त सभी प्रकार के वाक्यों को मूल वाक्यों का सत्यता-फलन (Truth functions) कहा । इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन के विश्लेषण का आधार यह मत है कि भाषा सत्यता-फलनात्मक (Truth functional) है । विश्लेषण का कार्य वर्ण्य वस्तु का पर्याप्त चित्र प्रस्तुत करना है । उदाहरण के लिए, यह मेज नहीं है, वह वाक्य, यह मेज है, इस वाक्य का निषेध है । और निषेध एक सत्यता-फलनात्मक व्यापार है । सभी मनुष्य मर्त्य हैं, यह वाक्य वास्तव में विश्लेषण करने पर निम्नलिखित वाक्य मे बदल जाता है । प्रत्येक 'क' के लिए यदि 'क' एक मनुष्य है तो 'क' मर्त्य है । इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन ने पूर्ण और अन्तिम विश्लेषण का प्रश्न उठाया और अपने तार्किक अणुवाद के आधार पर सिद्ध किया कि यह सम्भव है । यहाँ उसने एक आदर्श भाषा की कल्पना की । किन्तु जैसा कि विट्गेन्स्टाइन ने स्वयं बाद मे माना, पूर्ण और अन्तिम विश्लेषण एक तत्वमीमांसात्मक मृगतृष्णा है क्योंकि वह मात्र काल्पनिक है[१५] । पुनश्च मूल वाक्य या आणविक वाक्य के बारे मे विट्गेन्स्टाइन कई प्रकार का कथन करते है । ट्रैकटेटस में जी० ई० एम० ऐन्सकोम के अनुसार मूलवाक्यों के बारे मे निम्नलिखित पाच मत[१६] मिलते है :—

(१) वे परस्पर स्वतन्त्र वाक्यों के वर्ग है ।

(२) वे तत्वतः स्वीकारात्मक हैं

(३) उनके सत्य या असत्य होने का मार्ग केवल एक है, दो नही।

(४) वे ऐसे है कि उनमे आन्तरिक और बाह्य निषेध का भेद नही है।

(५) वे नामो के समूह है और पूर्णतया मूल सकेत (Simple signs) है।

इसके अतिरिक्त विट्गेन्स्टाइन अपने 'लॉजिकल फार्म' नामक लेख मे कहते है, (६) जिस वाक्य मे 'और', 'या', 'न' अथवा अन्य कोई जातिवाचक पद न है वह आणविक वाक्य या मूल वाक्य है।[17] इस प्रकार मूल वाक्य के बारे मे विट्गेन्स्टाइन के मत बदलते रहे है। उन्होंने मूल वाक्यो को विश्लेषण के आधार पर माना। (७) विश्लेषण से अन्ततोगत्वा जो अविश्लेष्य वाक्य मिलते है, वे मूल वाक्य है। किन्तु जब उनसे पूछा गया कि ऐसे वाक्य का उदाहरण दीजिए, तो उन्होने स्वीकार किया कि ऐसे वाक्य का उदाहरण नही दिया जा सकता क्योंकि सिद्धान्तत: प्रत्येक वाक्य का विश्लेषण हो सकता है। इस प्रकार उनके अनुसार मूलवाक्य मात्र प्राक्काल्पनिक है। उपर्युक्त सातों मत फिर भी मूलवाक्यो का कुछ ज्ञान कराते है।

किन्तु रसेल ने इन्द्रिय-प्रदत्त वाक्यों को मूल वाक्य माना है। उदाहरण के लिए, यह लाल है, यह एक मूल वाक्य है। उनके मत का प्रभाव तार्किक भाववाद पर विशेष रूप से पडा है। आगे चलकर एअर ने मूलवाक्यों को बुनियादी वाक्य (Basic Statement) कहा और उन्हें इन्द्रिय-प्रदत्त का वर्णनक कहा। इनकी प्रामाणिकता इन्द्रिय-अनुभव से अवेदेण सिद्ध होती है। ट्रैक्टेटस मे विट्गेन्स्टाइन ने मूलवाक्यों मे समस्त वाक्यों का विश्लेषण जिस प्रकार से किया वह रासायनिक विश्लेषण की भाँति है। आगे चलकर इस विश्लेषण-विधि का स्वय उन्होंने खण्डन किया[18]। किन्तु ट्रैक्टेटस मे जो विश्लेषण-विधि है वह महत्त्वपूर्ण है। वह अन्तर्भाववादी (Reductionist) है और भाषा की सत्यता-फलनात्मकता पर निर्भर है। वह न तो वास्तविक परिभाषा है और न प्रत्ययात्मक परिभाषा। वह आकारिक रूपान्तरण है। इसलिए उसे शाब्दिक परिभाषा (Nominal Definition) कहा जा सकता है। उसके द्वारा भ्रामक कथनों को शुद्ध तार्किक अभिव्यक्तियों मे रूपान्तरित किया जाता है जिनसे उनकी भ्रामकता दूर हो जाती है। ऐसा विश्लेषण भाषा और जगत के सम्बन्ध का वर्णन नहा करता है। वह शुद्ध भाषिक है। इस विश्लेषण का अभेद दर्शन से नही किया जा सकता। इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन के मत से विश्लेषण और दर्शन मे अभेद सम्बन्ध नही है। वे तार्किक भाववादियों की भाँति विश्लेषण को तत्त्वमीमांसा का निराकर्ता नहीं मानते है उनका तार्किक अणवाद स्वय अपने मे एक अतीव सूक्ष्म तत्त्वमीमासा है

(१००) जॉन विजडम का विश्लेषण। जॉन विजडम ने १९३४ में एक लेख लिखा जिसका शीर्षक है, क्या विश्लेषण दर्शन-शास्त्र में लाभदायक विधि है ? इसमें उन्होंने तीन प्रकार के विश्लेषण बताये—भौतिक, आकारिक, दार्शनिक[१०]। प्राकृतिक विज्ञानों में जो साधारण परिभाषाएँ दी जाती हैं वे भौतिक विश्लेषण के उदाहरण हैं। रसेल का वर्णन-सिद्धान्त आकारिक विश्लेषण का उदाहरण है। ये दोनों प्रकार के विश्लेषण एक-स्तरीय विश्लेषण (Same Level Analysis) हैं। फिर दार्शनिक विश्लेषण नवीन-स्तरीय विश्लेषण (New Level Analysis) है जिसमें अधिक मौलिक पद कम मौलिक पदों को परिवर्तित कर देते हैं। उदाहरण के लिए, व्यक्ति राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक मौलिक हैं और इन्द्रिय-प्रदत्त तथा मानसिक अवस्थाएँ व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक मौलिक हैं। दार्शनिक विश्लेषण का तात्पर्य है कि मन-सम्बन्धी कथनों को मानसिक-अवस्थाओं से सम्बन्धित कथनों में रख दिया जाय और भौतिक विषयों से सम्बन्धित कथनों को इन्द्रिय-प्रदत्त-सम्बन्धी कथनों के अन्तर्गत कर दिया जाय। इस प्रकार रसेल के तार्किक-संरचना सिद्धान्त पर विजडम ने अधिक जोर दिया और उसके माध्यम से ही विश्लेषण किया।

(१०१) गिलबर्ट राइल का विश्लेषण। गिलबर्ट राइल ने १९३०-३२ में एक निबन्ध प्रकाशित किया जिसका शीर्षक है व्यवस्थित रूप से भ्रामक अभिव्यक्ति (Systematically Misleading Expressions)। इसमें उन्होंने कहा कि दर्शन (फिलासफी) का कार्य है उन अभिव्यक्तियों का विश्लेषण करना जो दार्शनिकों को भ्रम में डालती हैं और जिनके कारण वे उन अभिव्यक्तियों को अन्यथा समझ लेते हैं। ऐसी अभिव्यक्तियों के दो प्रकार हैं—(१) तार्किक प्रकार और (२) व्याकरणिक प्रकार। उनका व्याकरणिक प्रकार भ्रामक होता है और उनके विश्लेषण का अर्थ है उनको उनके तार्किक प्रकार में रख देना। ऐसा करने से भ्रम दूर हो जाता है और अभिव्यक्ति का वास्तविक रूप स्पष्ट हो जाता है। जैसे मांसाहारी गायों का अस्तित्व नहीं है, यह वाक्य भ्रामक है और सूचित करता है कि मांसाहारी गाय नहीं है। इस वाक्य का तार्किक रूप यह है कि कोई जानवर गाय भी हो और मांसाहारी भी हो, ऐसा नहीं है। अर्थात् कोई ऐसा जानवर नहीं है जो गाय हो और मांसाहारी हो। इस रूप में रखने पर भ्रामकता दूर हो जाती है और अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

पुनश्च राइल ने व्यवस्थित रूप से भ्रम उत्पन्न करने वाली अभिव्यक्तियों को चार वर्गों में बाँटा है—

(१) तात्त्विक वाक्याभास (Quasi Ontological Statement) जैसे

ईश्वर है, मांसाहारी गायों का अस्तित्व नहीं है। इन वाक्यों से ज्ञात होता है कि इनके उद्देश्य किसी सत्ता के बोधक हैं। किन्तु वस्तुतः यह बोधकत्व गलत है।

(२) अफलातूनी वाक्याभास (Quasi Platonist Statement)। जैसे सद्गुण का पुरस्कार स्वयं सद्गुण ही है। इस वाक्य से ज्ञात होता है कि सद्गुण की कोई सत्ता है। परन्तु ऐसा नहीं है।

(३) कुछ वर्णनात्मक वाक्य (Descriptive Statement)। जैसे इलाहाबाद विश्वविद्यालय का जो भी कुलपति होता है वह अति परेशानी में रहता है, फ्रांस का वर्तमान राजा बुद्धिमान् है, आदि। इन वाक्यों से ज्ञात होता है कि यहाँ जो वर्णन किये गये है वे सत्य है। किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं।

(४) वर्णनाभास (Quasi- Descriptive Statement)। जैसे मैंने पेड़ की चोटी देखी। यहाँ ज्ञात होता है कि मैंने केवल पेड़ की चोटी देखी और वह चोटी कोई वस्तु है। परन्तु ऐसा है नहीं। यहाँ केवल यह अर्थ है कि मैंने पेड़ के ऊपरी भाग को देखा।[२०]

(१०-) **कार्नप का विश्लेषण**। तार्किक भाववाद ने इस मत को गहराई से प्रचारित किया कि दर्शन का कार्य केवल तार्किक विश्लेषण है और तार्किक विश्लेषण का मुख्य सिद्धान्त सज्ञानात्मक अर्थ का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी मुख्य वाक्य का सज्ञानात्मक अर्थ (Cognitive meaning) उसके प्रमाणीकरण की विधि है। यदि कोई वाक्य प्रमाणीकरण-योग्य नहीं है और वह पुनर्कथन भी नहीं है तो सज्ञान के दृष्टिकोण से वह निरर्थक है। इस कसौटी पर समस्त परम्परागत दर्शन-शास्त्र को अर्थशून्य या निरर्थक कहा गया है, क्योंकि वह प्रमाणीकरण-योग्य नहीं है। प्रमाणीकरण-सिद्धान्त ने एक ओर तर्कशास्त्र तथा गणित को सार्थक कहा है क्योंकि वे पुनर्कथनों का ज्ञान देते हैं और दूसरी ओर विज्ञानों को सार्थक बताया, क्योंकि उनके वाक्य प्रमाणीकरण के योग्य है। फिर तर्कशास्त्र-गणित और विज्ञान कलन-समष्टियाँ (calculi) हैं, जिनके अंग हैं चर या अक्षर तथा रूपान्तरण और परिवर्तन के नियम जिनके द्वारा कुछ वाक्य सिद्ध किये जा सकते हैं। किन्तु इन कलन-समष्टियों ने एक नया प्रश्न खड़ा किया क्योंकि इनका वाक्य-विन्यास न तो पुनर्कथन है और न प्रमाणीकरण-योग्य है और न निरर्थक है। अतः इस प्रश्न पर विचार करने से दार्शनिक विश्लेषण का एक नया रूप निखर आया जिसे विज्ञान की भाषा का तार्किक विश्लेषण कहा जाता है। इसके दो रूप हैं, एक का प्रतिपादन रूडोल्फ कार्नप करते हैं और दूसरे का प्रतिपादन ए० ज० एअर करते हैं

कार्नेप कहते है कि विज्ञान की भाषा का तार्किक विश्लेषण वाक्यों, पदो प्रत्ययो आदि का विश्लेषण है। तार्किक विश्लेषण शुद्ध रूप से भाषा का आकारिक सिद्धान्त है। उसका तनिक भी सम्बन्ध जगत् और भाषा के सम्बन्ध मे नही है। इस प्रकार कार्नेप ने केवल भाषा के तार्किक वाक्य-विन्यास (Syntax) को दर्शन या विश्लेषण का कार्य बतलाया और अर्थ विज्ञान (Semantics) को विश्लेषण के क्षेत्र से निकाल बाहर कर दिया[२१] अर्थात् विश्लेषण केवल भाषा के नियमो का उद्घाटन करता है, वह वाक्यो के विविध सम्बन्धो को अभिव्यक्त करता है। ऐसा करते हुए वह आभासित वाक्य-विन्यासो को भी प्रगट करता है जिनके कारण दार्शनिक विवाद खड़े हो जाते है। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित तीन वाक्यो को लीजिये—

(१) गुलाब लाल है।
(२) गुलाब एक वस्तु है।
(३) गुलाब शब्द एक वस्तु शब्द है।

पहला वाक्य आनुभविक है और यथार्थतः विषय-सम्बन्धी वाक्य है। तीसरा वाक्य एक शब्द के बारे मे है और यह वाक्य-विन्यासात्मक है। इन दोनो वाक्यो के प्रयोग ठीक है। किन्तु दूसरा वाक्य दो अर्थ देता है क्योंकि यह आकार मे पहले वाक्य की तरह है और विषय मे तीसरे वाक्य की तरह। अतएव यह एक छद्म-विषय-वाक्य है।[२२] वास्तव मे यह वाक्य-विन्यासात्मक है और इसका वही अर्थ है जो तीसरे वाक्य का अर्थ है। अतएव दूसरे वाक्य का अनुवाद तीसरे वाक्य मे किया जाना चाहिए। इस अनुवाद से उसका सही रूप प्रकट होता है और द्वयर्थकता दूर हो जाती है। द्वयर्थकता का कारण वाक्य-विन्यास की नासमझी है।

कार्नेप के अनुसार वाक्य-विन्यासात्मक कथन भाषा की आकारिक विधा के अन्तर्गत है और छद्म विषय-वाक्य भाषा की वस्तुगत विधा के। अधिकांश दार्शनिक समस्याएँ और विवाद भाषा की वस्तुगत विधा के गलत प्रयोग से उत्पन्न होते है। यदि उनका अनुवाद भाषा की आकारिक विधा मे कर दिया जाय तो वे समस्याएँ और विवाद दूर हो जाते है। उदाहरण के लिए, यथार्थवाद (Realism) और संवेदवाद (Phenomenalism) का विवाद ऐसे अनुवाद से दूर किया जा सकता है। जो भी सार्थक वाक्य है वह या तो यथार्थतः विषय-वाक्य है जैसे प्राकृतिक विज्ञानो के वाक्य और या तो वाक्य विन्यासात्मक वाक्य, जैसे गणित और तर्कशास्त्र के वाक्य। तार्किक विश्लेषण के रूप मे दर्शन-शास्त्र का तात्पर्य है विज्ञानों की भाषा से सम्बन्धित सभी सत्य वाक्यों को विन्यासात्मक कथनों की समष्टि मे प्रस्तुत करना

(१०३) **एअर का विश्लेषण।** प्रो० ए० जे० एअर ने १९३६ मे (Language, Truth and Logic) नामक एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली ग्रंथ लिखकर विश्लेषण-प्रणाली को अँग्रेजी-भाषी देशो मे प्रचारित किया। यद्यपि उनका विश्लेषण रसेल और मूर के विश्लेषणो से प्रभावित है तथापि उन पर विएना सर्किल के रूडोल्फ कार्नप का प्रभाव सबसे अधिक है। उन्होंने प्रमाणीकरण को सार्थकता की कसौटी माना। इसके अनुसार कोई प्रकथन तभी सार्थक होता है जब वह या तो विश्लेषणात्मक वाक्य हो या इन्द्रिय-अनुभव मे प्रमाणीकरण-योग्य हो। विश्लेषणात्मक वाक्य पुनर्कथन है। उसकी प्रमाणिकता आकारिक है। इन्द्रिय-अनुभव से उसको प्रमाणित करने की आवश्यकता या प्रासंगिकता नही है। किन्तु संश्लेषणात्मक वाक्यों की प्रामाणिकता अन्ततोगत्वा इन्द्रिय-अनुभव से ही प्रमाणित होती है। इस प्रसंग मे एअर ने सबल प्रमाणीकरण और दुर्बल प्रमाणीकरण का अन्तर किया है। सबल प्रमाणीकरण के अनुसार कोई वाक्य तभी प्रमाणित होता है जब वह निश्चय-पूर्वक अथवा निःसन्देह रूप से इन्द्रिय-अनुभव से प्रमाणित हो। एअर के अनुसार मूल वाक्य (Basic Statement) जो इन्द्रिय-प्रदत्त के बारे मे प्रकथन है, इस प्रकार प्रमाणित होते है। फिर दुर्बल प्रमाणीकरण के अनुसार कोई भी वाक्य प्रमाणीकरण-योग्य तब माना जाता है जब इन्द्रिय-अनुभव उसकी सम्भाव्यता प्रदर्शित कर दे[२३]। इस प्रकार निःसन्देह प्रमाणीकरण के स्थान पर सम्भाव्य प्रमाणीकरण सार्थकता की कसौटी हो जाता है जो वास्तव में सबल प्रमाणीकरण की कटु समीक्षा के कारण प्रस्तावित किया गया है।

पुनश्च कार्नप की भाँति वे मानते है कि विश्लेषण का कार्य तथ्य का चित्रण करना नही है अपितु केवल सदर्भात्मक परिभाषा देना है। सदर्भात्मक परिभाषा प्रयोग मे प्रचलित प्रतीकों की परिभाषा है। विश्लेषण इन परिभाषाओं को ऐसे वाक्यो से रूपान्तरित करता है जिनमे परिभाष्य और उसका कोई पर्यायवाची शब्द न आवे। इस प्रकार विश्लेषण का कार्य भाषा तक सीमित है। वह पहले उन वाक्यो को परिगणित करता है जो किसी भाषा के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। फिर वह उस भाषा के विविधप्रकार के वाक्यो मे समानार्थकता का सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। इस प्रकार एअर भी मानते हैं कि विश्लेषण प्रत्ययात्मक या वास्तविक परिभाषा नहीं है अपितु शाब्दिक परिभाषा (Nominal Definition) है।

किन्तु कार्नप और एअर दोनो ने विश्लेषण-सम्बन्धी अपने इस मत का बाद मे खण्डन किया। कार्नप ने १९५३ में ही सत्यता और सत्यापन (Truth and Confirmation) नामक निबंध लिखकर दिखलाया कि विश्लेषण वाक्य-विन्यासात्मक प्रश्नो के अतिरिक्त अर्थ विज्ञान सबंधी Semantical प्रश्न को भी अपने

अन्दर शामिल कर सकता है। इसी प्रकार एअर ने १९४६ में भाषा सत्यता और तर्कशास्त्र नामक ग्रंथ (Language, Truth and Logic) के द्वितीय संस्करण में दिखलाया कि सभी विश्लेषण संदर्भात्मक परिभाषा नहीं है। उदाहरण के लिए मूर के कुछ विश्लेषण सदर्भात्मक परिभाषा से भिन्न है। इस प्रकार उन्होंने भी कम-से-कम प्रत्ययात्मक परिभाषा को भी विश्लेषण के अन्दर शामिल किया।

(१०४) **विश्लेषण और परिभाषा**। उपर्युक्त सात दार्शनिक विश्लेषकों की विश्लेषण-पद्धति का विवेचन प्रदर्शित करता है कि दार्शनिक विश्लेषण और परिभाषा का गहरा सबंध है। सामान्यत: दोनों को एक और अभिन्न माना गया है। रसेल का विश्लेषण मुख्यत: वास्तविक परिभाषा (स्वरूप लक्षण) है। मूर का विश्लेषण प्रधानत प्रत्ययात्मक परिभाषा है। इनके अतिरिक्त अन्य विश्लेषकों के विश्लेषण सामान्यत सदर्भात्मक परिभाषा (तटस्थ लक्षण) है। सदर्भात्मक परिभाषा का विकास (परिष्कार) धीरे-धीरे शुद्ध शाब्दिक और आकारिक परिभाषा में हो जाता है। इसलिए जो विश्लेषण सदर्भात्मक परिभाषा के रूप में होता है वह विषय-वस्तु के रूप में होता है। वह विषय-वस्तु से हटकर मात्र भाषिक आकार में सबंधित हो जाता है। इस प्रकार से देखने पर विश्लेषण और परिभाषा में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता है। परन्तु दोनों में कुछ अन्तर किये गये है जिनका विचार करना आवश्यक है।

(i) परिभाषा पद, प्रतीक या प्रकथन की होती है और विश्लेषण प्रत्यय तथा प्रतिज्ञप्ति का होता है। इस प्रकार दोनो के विषय-क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। परन्तु पद और प्रतीक या प्रत्यय और प्रतीक दोनों को अलग करना कठिन हो जाता है, जैसे द्रव्य कारण, देश, काल संख्या, वर्ग आदि पद है और प्रत्यय भी है। जब हम द्रव्य की परिभाषा देते है तो वह परिभाषा केवल द्रव्य पद की नहीं होती किन्तु द्रव्य के प्रत्यय की भी होती है। इसलिए पद और प्रत्यय का अन्तर करना कठिन है। जब हम दोनो में अन्तर करते है और परिभाषा को केवल पद या प्रतीक तक सीमित रखते है, तो फिर हम दार्शनिक विश्लेषण की सीमा पार कर स्पष्टीकरण के क्षेत्र में चले जाते है। इसलिए दार्शनिक विश्लेषण के दृष्टिकोण से पद या प्रतीक की विश्लेषणात्मक परिभाषा और उससे सकेतित प्रत्यय का विश्लेषण दोनों एक ही है। किन्तु यह तभी सत्य है जब किसी पद का सम्बन्ध या निर्देश किसी प्रत्यय से हो। जब पदों का सकेत किसी प्रत्यय से नहीं होता तो पद की परिभाषा प्रत्यय की परिभाषा नहीं है, जैसे स्वर्णगिरि और आह, अरे बहादुरी से लड़ना, आदि पद या पदावलियाँ ऐसे है जिनका सकेत किसी प्रत्यय से नहीं है। किन्तु प्रत्यय की जो परिभाषा होगी वह पद की भी परिभाषा होगी इस प्रकार

सभी प्रत्ययात्मक परिभाषाएँ पद की परिभाषा है। किन्तु सभी पदों की परिभाषाएँ प्रत्ययात्मक परिभाषा नही है।

पद परिभाषा और प्रत्यय-परिभाषा के समीकरण के पक्ष मे एक अन्य बात यह है कि पद की परिभाषा में एक सामान्य प्रत्यय का विश्लेषण निहित रहता है और इसलिए रसेल ठीक ही कहते है कि परिभाषा हमारे ज्ञान में एक नवीन और उल्लेखनीय वृद्धि प्रदान करती है[२४]।

(ii) कुछ लोग कहते है कि परिभाषा यादृच्छिक होती है और विश्लेषण वस्तुनिष्ठ, अभिमसयपरक या सदर्भमूलक होता है। परिभाषा किसी शास्त्र के आरम्भ मे आती है और जब उस शास्त्र का विस्तार हो जाता है और शास्त्र का विश्लेषण किया जाता है तो उसकी परिभाषाएँ अनावश्यक हो जाती है। इस प्रकार जब शास्त्र का रूप गठित हो जाता है, तब उसके गठित वाक्यों का पारस्परिक रूपान्तरण या परिवर्तन किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से प्राथमिक परिभाषाएँ अनावश्यक हो जाती है और उनका स्थान आकारिक विश्लेषण ले लेता है। उदाहरण के लिए रसेल के तर्कगणित मे वियोजन और निषेध इन दो प्रतीकों की परिभाषा आरम्भ में की जाती है और इनके माध्यम से सम्पूर्ण तर्कगणित का कलन निगमित किया जाता है। जब यह निगमन हो जाता है तो वियोजन और निषेध को भी इस कलन मे बाह्य समझा जाता है और वे इस कलन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उनकी भूमिका और उनके प्रकार्य केवल इस कलन मे ही चरितार्थ होते है, इसके बाहर नही।

पुनश्च कुछ लोग कहते है कि विश्लेषण एक प्रतिज्ञप्ति है और वह सत्य या असत्य हो सकता है। इसके विपरीत परिभाषा कोई प्रतिज्ञप्ति नही है। इसलिए परिभाषा सत्य या असत्य नही होती है। वह शुद्ध या अशुद्ध होती है। किन्तु स्टेबिंग का यहाँ कहना है कि ऐसा सोचना एक भूल है। यदि परिभाषक परिभाष्य के शुद्ध प्रयोग के समानार्थक है तो परिभाषा सत्य है[२५]। फिर चूँकि परिभाषा प्रयोगकर्ता की इच्छा को अभिव्यक्त करती है और वह कोई प्रतिज्ञप्ति नही है इसलिए वह सत्य या असत्य नही हो सकती है। इस युक्ति का खडन करते हुए स्टेबिंग कहती है—यदि परिभाषा किसी इच्छा को अभिव्यक्त करती है तो वह इच्छा निम्नलिखित प्रकार की होगी—

(क) य का प्रयोग हम उस वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिए कर रहे है जिसे र अभिव्यक्त करता है। यह एक प्रतिज्ञप्ति है। अगर वक्ता य का प्रयोग इस प्रकार करता है तो यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है और नहीं करता तो यह प्रतिज्ञप्ति

असत्य है। इस प्रकार स्टेबिंग का कहना है कि यद्यपि परिभाषा यादृच्छिक है तथापि इसका तात्पर्य यह नही है कि वह सत्य या असत्य नही हो सकती[२६]।

(ख) स्टेबिंग का मत है कि किसी पद की विश्लेषणात्मक परिभाषा उस पद से अभिव्यक्त प्रत्यय के विश्लेषण को उत्पन्न करती है। इस प्रकार विश्लेषणात्मक परिभाषा और प्रत्ययात्मक विश्लेषण मे निगमित आपादन (Entailment का सबध है[२७]। पहले हम किसी वस्तु या प्रत्यय के लिए कुछ पदो का प्रयोग करते है, यद्यपि उस वस्तु या प्रत्यय का स्पष्ट ज्ञान हमे नही रहता है। बाद मे हम उसी वस्तु या प्रत्यय के लिए दूसरे प्रकार के शब्दों या प्रतीको का प्रयोग करते हैं जो अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता से उसको अभिव्यक्त करते है। इन दोनो प्रकार की पदावलियो मे निगमित आपादन का संबंध रहता है। वास्तव मे तार्किक विश्लेषण मे रासायनिक विश्लेषण के विपरीत दो वस्तुएँ नही होती है वरन् वस्तु की दो अभिव्यक्तियाँ होती है, जैसे भाई और सहोदर पुरुष इन दोनो अभिव्यक्तियों का अर्थ एक ही है। विश्लेषणात्मक परिभाषा का प्रयोजन किसी पद का ऐसा विश्लेषण करना है जो उसको और अधिक मौलिक प्रतीको या पदों के अन्तर्गत कर देता है। उसका प्रयोजन हमारे द्वारा पूर्वज्ञात पद के अर्थ की व्याख्या करना नहीं है। विश्लेषण साधन है और परिभाषा साध्य है। राबिन्सन कहते हैं कि किसी विषय की परिभाषा देने के लिए विश्लेषण के मार्ग को छोड़कर कोई दूसरा मार्ग नहीं है[२८]। इस प्रकार विश्लेषण विधि या प्रमाण है और परिभाषा उसका फल है।

इस प्रकार परिभाषा और विश्लेषण मे कुछ भेद किया जा सकता है। आखिरकार विश्लेषण की परिभाषा की जा सकती है और परिभाषा का विश्लेषण किया जा सकता है। किन्तु इसको न मानते हुए भी कहा जा सकता है कि प्राचीन काल मे परिभाषा की भी परिभाषा की जाती थी और आधुनिक काल मे विश्लेषण का भी विश्लेषण किया जाता है। परिभाषा मे एक प्रकार के संश्लेषणात्मक बौद्धिक व्यापार निहित रहता है। इस दृष्टि से परिभाषा और संश्लेषण मे प्रस्थान-भेद (आरम्भ-बिन्दु का भेद) और प्रक्रिया-भेद (मार्ग-भेद) दृष्टिगोचर हो सकते है। किन्तु जब पद और पदार्थ या प्रत्यय एक ही शब्द द्वारा अभिव्यक्त होते है तब उनकी परिभाषा और उनके विश्लेषण मे पर्याप्त अभेद रहता है।

(१०५) **विश्लेषण और न्याय।** तार्किक भाववादियो ने दावा किया कि उन्होने दर्शनशास्त्र की एक नयी प्रणाली खोजी है दर्शनशास्त्र म एक नयी क्रान्ति की है और प्राचीन समस्त दर्शनों को निरस्त कर दिया है किन्तु उनका यह

दावा दुःसाहसपूर्ण तथा अविवेकपूर्ण है। कम-से-कम उन्होंने भारतीय न्याय-दर्शन की प्रणाली का निराकरण नहीं किया, उलटे उन्होंने इसको और संगठित, सूत्रबद्ध, दिशा-बद्ध तथा सुदृढ किया। भारतीय न्याय-दर्शन यह मानकर चलता है कि न्याय का विषय उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा है। उद्देश और लक्षण आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत आते है। परीक्षा लक्षणों का परिष्कार है। अतः वह भी परिभाषा का ही अग है। प्रकारान्तर से उद्देश, लक्षण और परीक्षा विश्लेषण के भी अग है। वह भी इनका ही विवेचन करता है। अत. जब कहा जाता है कि विश्लेषण करने वाले दार्शनिक वास्तव मे वास्तविक परिभाषा, प्रत्ययात्मक परिभाषा संदर्भात्मक परिभाषा करते है तो उनकी दार्शनिक विधि बहुत-कुछ न्याय-दर्शन की प्रणाली हो जाती है।

परन्तु आधुनिक दार्शनिक विश्लेषण ने न्याय के तीन उपादानों मे एक चौथा उपादान जोडा है जिसे भाषा (Language) या कलन (Calculus) कहा जा सकता है। न्याय दर्शन केवल उद्देश, लक्षण और परीक्षा इन तीन उपादानों को जिस न्याय के लिए आवश्यक समझता है वह वास्तव मे विश्लेषण ही है और उसका आधार भी भाषा ही था। किन्तु उसमे भाषा का विश्लेषण सिद्धान्ततः विचारित नही था। वह न्याय केवल सामान्य भाषा और सामान्य शब्द-प्रयोग पर निर्भर था। आधुनिक दार्शनिक विश्लेषण ने भाषा को विश्लेषण का मुख्य उपादान माना। इस प्रकार उसने विश्लेषण को भाषा प्रदान की, उसमें से मनमानीपन (Humpty Dumptyism) को निकाल बाहर किया और उसका संबंध भाषा की प्रवृत्ति तथा प्रतिभा मे, या संक्षेप मे भाषा की नियमावली या व्याकरण से जोड़ा। इस प्रकार परिभाषा या विश्लेषण के विवेचन मे अब चार उपादान आ जाते है—उद्देश, लक्षण, परीक्षा और भाषा। परिभाषा-शास्त्र का अथ और इति दोनों भाषा ही है। आरम्भ मे जो उद्देश है वह नामकरण या साधारण प्रतीक (Simple Symbol) है। अन्त मे जो भाषा आती है वह एक निकाय (System) या कलन है। यह निकाय आकारिक तथा अनाकारिक दोनों हो सकता है। आकारिक निकाय विश्लेषण का क्रीडाक्षेत्र है और अनाकारिक निकाय स्पष्टीकरण का। अन्तिम को यद्यपि भाषिक विश्लेषण कहा जाता है तथापि आकारिक विश्लेषण से भिन्न होने के कारण उसको यहाँ स्पष्टीकरण कहा गया है। वह स्पष्टीकरण परम्परागत दार्शनिक पद्धति के साथ भी जुडा था। अतएव वह कोई क्रान्तिकारी विधि नही है। भारतीय दर्शन की तो वह बहुत प्रचलित विधि है क्योंकि उसमे भाष्य, वार्तिक, वृत्ति, टीका, टिप्पणी तथा टिप्पण के कार्य मुख्यतः स्पष्टीकरण ही थ

संदर्भ और टिप्पणि

1 The Encyclopedia of Philosophy, ed Paul Edwards, New York, 1967, Vol I, p. 103

2 Ibid p. 103-104

3 Introduction to Mathematics, Bertrand Russell, London, 7th edition, 1950, p 177

४ अपूर्ण प्रतीक के विभिन्न अर्थों के लिए देखिए फिलसाफीकल एनालिसिस, जे० ओ० अर्मसन, आक्सफोर्ड, १९५६, पृ० २८-३६ ।

५ वही पृ० ३८-३४ ।

6 G E. Moore, A Reply to My Critics, in the Philosophy of G E Moore, edited P A Schilp, New York, 1942 p 1942 p 663

7 Lectures on Philosophy by Prof G E. Moore, edited C. Levy, London, 1966, p 156.

8 Ibid. p. 156.

9 So far as I can see it's not analysis of a concept at all Ibid p. 160.

10 Ibid p. 161.

11 Ibid. p. 168.

12 A Statement that a certain word or phrase "W" has a certain meaning when the statement is such that in making it, you are giving an analytic definition of "W" is an analysis of concept, provided "W" does stand for a concept, Ibid. p 159.

13 Our definition of "Brother" is not therefore merely a statement to the effect that "Brother" has a certain meaning. It is a statement of this sort which is not of the sort which Johnson calls an ostensive definition Ibid p 158

14 The Encyclopedia of Philosophy ed Paul Edwards New York 1967 Vol 1 p 100

15 A Companion to Wittgenstein's Tractatus, Max Black, Cambridge, 1964, p 256

16 An Introduction to Wittgenstein's Tractatus, G E M. Anscombe, London, 1959, p. 31.

१७ दे० मैक्स ब्लैक उद्धृत ग्रंथ पृ० २०८ ।

१८ दे० वही पृ० २०८ ।

१९ दे० पाल एडवर्ड्स उद्धृत ग्रंथ पृ० १०१ ।

२० वही पृ० १०१-१०२ ।

21 Philosophy or Analysis has no proper concerns, whatever with meaning, of the words and sentences or Language, that is, with the semantical relations between Language and the world वही पृ० १०२ ।

२२ वही पृ० १०२ ।

23 Language, Truth and Logic, A J Ayer, 2nd edition, 1946, Introduction p 9

24 Modern Introduction to Logic, L.S Stebbing, London, 1953, 7th edition, p 440

25 Ibid p 426

26 Ibid p 440.

27 The analytic definition of a symbol entails an analysis of what is expressed by both sets of symbols, Ibid p 441

28 Definition, R Robinson, 1934, p. 26

9

परिभाषा-न्याय और विश्लेषण

(१०६) नीयते अनेन इति न्यायः, जिसके द्वारा पहुँचा जाय वह न्याय है। ऐसी न्याय पद की व्युत्पत्ति है। इस अर्थ में परिभाषा न्याय है क्योंकि वही मनुष्य पहले भाषा के प्रयोग-कर्ता को अर्थ तक ले जाती है या पहुँचाती है। भवभूति कहते है कि लोक मे सज्जनो की वाणी या भाषा अर्थ का अनुवर्तन करती है अर्थात् जैसा अर्थ होता है वे वैसा पद प्रयोग करते है अथवा उनके पद अर्थ का अनुसरण करते है। इसके विपरीत आद्य ऋषियो के लिए स्वय अर्थ ही भाषा या पद का अनुगमन करता है।

लौकिकाना हि साधूना वागर्थमनुवर्तते।
ऋषीणा पुनराद्याना वाचमर्थोऽनुधावति ।।[१]

यहाँ स्पष्ट है कि मनुष्यों की भाषा त्रिकालज्ञ ऋषियो की भाषा से भिन्न है। हमारा विवेच्य विषय मनुष्यो की भाषा है, न कि ऋषियो की भाषा। मनुष्य जिन शब्दो का प्रयोग करते हैं उनकी शक्ति अर्थात् शब्द-शक्ति उनको अर्थ का ज्ञान कराती है। शब्द मे ही जो शक्ति है वही पुरुष-आश्रित तर्क है। वही शब्दानुगत न्याय है। ऐसा कोई न्याय नही है जो शब्दानुगत न हो।

शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्कोयः पुरुषाश्रय।
स शब्दानुगतो न्यायो नागमेष्वनिबन्धन ।।[२]

इस प्रकार भाषा न्याय है। इसी को आधुनिक युग में विश्लेषणात्मक दर्शन ने कहा कि भाषा एक तर्कशास्त्र है और उसने भाषा के तर्कशास्त्र का उद्घाटन किया जिसे विश्लेषण कहा जाता है। यह विश्लेषण यथार्थ शब्द-प्रयोग की खोज है और उसके माध्यम से अर्थ का स्पष्टीकरण करता है। यही परिभाषा का कार्य है। इसलिए समकालीन दर्शन का विश्लेषण परिभाषा और उसका परिष्कार है। परिभाषा और विश्लेषण मे जो लोग अन्तर करते हैं वे परिभाषा को वास्तविक परिभाषा तक सीमित रखते हैं और विश्लेषण को शाब्दिक परिभाषा मानते है। इस प्रकार उनके मत से भी विश्लेषण परिभाषा है।

(१०७) न्याय दर्शन मे लक्षण और प्रमाण का वही स्थान है जो अरस्तू की परम्परा के तर्कशास्त्र म परिभाषा Defn t on और उपपत्ति Demonst

ration) का है। इन दोनों तर्कशास्त्रों मे लक्षण या परिभाषा प्रमाण या उपपत्ति का पूर्ववर्ती है तथा उसका सहायक साधन है। लक्षण और परिभाषा दोनो का प्रयोग यहाँ एक ही अर्थ मे किया गया है। लक्षण का लक्षण उपर्युक्त दोनों तर्कशास्त्रों मे प्राय एक और अभिन्न है। लक्षण के नियम, लक्षण के दोष, लक्षण के प्रयोजन और लक्षण की विधियाँ इन दोनो तर्कशास्त्रो मे मूलत एक ही है। दोनों के अनुसार किसी वस्तु का लक्षण उसका असाधारण धर्म या व्यवच्छेदक गुण होता है।

(१०८) भारत मे प्राचीन न्याय ने लक्षण का जो विवेचन किया था उसका संशोधन, परिवर्धन और विकास नव्य-न्याय ने किया। उसने परिभाषा की कई विधियों का आविष्कार किया जिनसे परिभाषा को यथासम्भव सुनिश्चित और उपयोगी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार १९वी शती और 20वी शती मे पश्चिम मे फ्रेग, रसेल, मूर, पर्स, लेविस आदि तर्कशास्त्रियो ने एक नये तर्कशास्त्र को जन्म दिया जिसने अरस्तू के द्वारा प्रवर्तित परम्परागत परिभाषा-सिद्धान्त को बहुत अधिक परिष्कृत किया। इस नवीन तर्कशास्त्र मे परिभाषा का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता से किया गया और परिभाषा को तीन विभिन्न दृष्टियो से देखा गया। इन दृष्टियो से परिभाषा के तीन सिद्धान्त विकसित हुए। ये तीन सिद्धान्त स्वरूपवाद, प्रस्तावबाद और भाषावाद है। यह उल्लेखनीय है कि नव्य-न्याय ने भी स्वरूपवाद, शब्दवाद (परम्परागत शब्दवाद या आगमवाद) और यदृच्छावाद (आधुनिक संकेतवाद) का विवेचन किया है। इस दृष्टिकोण से हमने परिभाषा को दो प्रकारों में बाँटा है। पहला वास्तविक और दूसरा शाब्दिक। शाब्दिक परिभाषा भी पद-परिभाषा और प्रतीक-परिभाषा के भेद से दो प्रकार की होती है और वास्तविक परिभाषा वस्तु-परिभाषा तथा प्रत्यय-परिभाषा के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रस्तावबाद के अनुसार परिभाषा-वाक्य एक प्रकार का आदेश-वाक्य है जो परिभाष्य के प्रयोग को सुनिश्चित करता है। भाषावाद के अनुसार परिभाष्य कोई पद या प्रतीक ही होता है। हमने इन दोनो मतो का खण्डन किया है और स्वरूपवाद का समर्थन किया है। फिर जो स्वरूपवाद प्लेटो और अरस्तू के परिभाषा-सिद्धान्त मे मिलता है उसका भी हमने खण्डन किया है क्योंकि उनके अनुसार परिभाष्य कोई वस्तु है। हमारे मत मे परिभाष्य न तो कोई वस्तु है और न कोई शब्द, अपितु वह एक प्रत्यय है जिसको किसी पद या प्रतीक के द्वारा समझाया जाता है। पद या प्रतीक की जो परिभाषा की जाती है वह किसी-न किसी प्रत्यय से सम्बन्धित होती है अत हमने जिस परिभाषा सिद्धात का समर्थन किया है वह प्रत्ययवादी स्वरूपवाद है न कि वस्तुवादी और भाषावादी

नहीं है। हमारे विचार से आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन में रसेल और मूर ने जो विश्लेषण किया है वह वास्तव में प्रत्ययात्मक है और परिभाषा इस प्रत्ययात्मक व्यापार का फल है। न्याय में भी लक्षण के निर्माण और परिष्कार में इसी प्रकार का विश्लेषण किया जाता है।

(१०८) स्वरूपवाद के अनुसार परिभाषा सूचनात्मक होती है। वह परिभाष्य के स्वरूप का वर्णन करती है। अथवा वह अभिसमयात्मक निर्णय (Conventional Decision) का वर्णन प्रस्तुत करती है। दोनों दशाओं में उसका कार्य वर्णनात्मक और सूचनात्मक है। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि पृथ्वी गन्धवती है, तो यह परिभाषा पृथ्वी के स्वरूप का वर्णन करती है। फिर हम जब कहते हैं कि हाथी एक लम्बी सूंड वाला जानवर है, तो हम यहाँ हाथी का प्रयोग उसी प्रकार कर रहे हैं जैसा लोक में प्रचलन है। लोक-प्रचलन का विवरण देना भी सूचनात्मक या वर्णनात्मक कार्य है, इसलिए इस दूसरे उदाहरण में परिभाषा सूचनात्मक कही जायेगी।

परन्तु हमारा निष्कर्ष यह नहीं है कि प्रत्येक परिभाषा सूचनात्मक होती है। सूचना के अतिरिक्त भी परिभाषा के अन्य कार्य हैं। आदेश देना, निर्धारण करना, आकार को अभिव्यक्त करना अस्पष्टता तथा अनिश्चय को दूर करना, व्याख्या करना आदि भी परिभाषा के कार्य हैं। मुख्यतः परिभाषा वर्णन से भिन्न है क्योंकि वर्णन कथन है और परिभाषा अभिकथन है। फिर परिभाषा के भी तीन प्रकार हैं जिन्हें अनुवाद (Translation), विश्लेषण (Analysis) और उपलक्षण (Definite Description) कहा जाता है। अनुवाद को भाषावादियों ने विशेष महत्त्व दिया है। विट्गेन्स्टाइन इस प्रसंग में कहते हैं कि एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद करने के नियमों को परिभाषा कहा जाता है[२]।

हमने परिभाषा के कार्य को परिभाषा के प्रयोजन से अभिन्न किया है और परिभाषा के सात प्रयोजन बताये हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) तत्त्वबोध कराना (सूचना देना)।

(२) शब्द-प्रयोग बताना (पद की परिभाषा करना)।

(३) व्यावृत्ति करना (किसी पद का सीमित निर्धारित अर्थ करना)।

(४) सदिग्धार्थता का निराकरण करना।

(५) पदों की अस्पष्टता को दूर करना।

(६) सैद्धान्तिक या शास्त्रीय व्याख्या करना।

(७) मनोभावों को प्रभावित करना।

इन प्रयोजनों को न्याय-दर्शन तथा आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन दोनो के परिभाषा-सिद्धान्तों मे देखा जा सकता है।

(११०) परिभाषा के प्रकारों के बारे मे हमने प्रो० इर्विंग यम० कोपी के मत का खण्डन किया है और रिचर्ड राबिन्सन के मत का समर्थन। राबिन्सन के अनुसार परिभाषा के सर्वप्रथम दो प्रकार है—वास्तविक परिभाषा और शाब्दिक परिभाषा। फिर शाब्दिक परिभाषा के दो प्रकार है—शब्द-शब्द परिभाषा और शब्द-वस्तु परिभाषा और अन्त मे शब्द वस्तु परिभाषा के दो प्रकार है, कोशीय परिभाषा और ऐच्छिक परिभाषा। इस प्रकार परिभाषा के कुल चार प्रकार है जो निम्नलिखित है :—

(१) वास्तविक परिभाषा,

(२) शब्द-शब्द परिभाषा,

(३) कोशीय परिभाषा और

(४) ऐच्छिक परिभाषा।

परन्तु राबिन्सन ने वास्तविक परिभाषा का खण्डन किया है। हमने उनके खण्डन का निराकरण किया है और सिद्ध किया है कि उन्होने वास्तव मे जिसको शब्द-वस्तु परिभाषा कहा है वह वास्तविक परिभाषा का ही रूप है। इस प्रकार यदि देखा जाय तो परिभाषा के मुख्य तीन प्रकार है—वास्तविक परिभाषा (Real Definition), कोशीय परिभाषा (Lexical Definition) और ऐच्छिक परिभाषा (Stipulative Definition), जिनको परम्परागत पाश्चात्य तर्कशास्त्र और भारतीय न्यायदर्शन मानता रहा है। राबिन्सन ने जिसे शब्द-शब्द परिभाषा कहा है, वह यदि परिभाषा है तो वह कोशीय परिभाषा के अन्तर्गत है। फिर परिभाषा के जो अन्य भेद या उपभेद किये जाते हैं वे परिभाषा के प्रयोजन अथवा परिभाषा की विधि से सम्बन्धित रहते है।

परिभाषा का एक वर्गीकरण निर्देशार्थक तथा गुणार्थक परिभाषाओं मे किया जाता है। पुनः निर्देशार्थक परिभाषा (Denotative Definition) को उदाहरण द्वारा परिभाषा देना तथा सकेत द्वारा परिभाषा देना इन दो विधियो मे बाटा जाता है। गुणार्थक परिभाषा (Connotative Definition) को कोशीय परिभाषा और प्रयोगात्मक परिभाषा तथा विश्लेषणात्मक परिभाषा मे बाँटा जाता है। कोशीय परिभाषा को बिलोम-मूलक और पर्यायमूलक परिभाषाओ में बाँटा जा सकता है। विश्लेषणात्मक परिभाषा को जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा, निहितार्थक परिभाषा (Implicative Definition) और आवर्ती परिभाषा (Recursive

Definition) मे बाँटा जा सकता है। इस प्रकार पदो के अर्थ से सम्बन्धित परिभाषा का जो वर्गीकरण किया जाता है उसको हम निम्नलिखित तालिका में रख सकते है :—
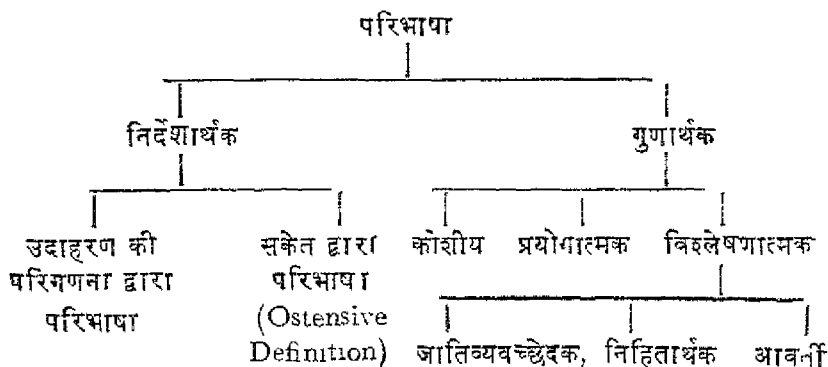
(१११) ऊपर परिभाषा के जो प्रकार बताए गये है उनमे परिभाषा विधियो का भी प्रयोग किया गया है। परिभाषा-विधियों का वर्णन हमने न्याय और आधुनिक विश्लेषण दर्शन के अनुसार किया है। यहाँ न्यायदर्शन के अनुसार दूषण-त्रय-निवारण-विधि, अवच्छेदकत्व-विधि और प्रतियोगित्व-विधि का वर्णन किया गया है।

समकालीन विश्लेषणात्मक दर्शन के अनुसार पर्याय-विधि, विश्लेषण-विधि, संश्लेषण-विधि, आपादन-विधि, निदेशात्मक-विधि संकेतवाचक-विधि, नियम-निर्धारक-विधि, आवर्ती-विधि तथा प्रेरक विधि का वर्णन किया गया है।

इन विधियो से स्पष्ट होता है कि सभी परिभाषाएँ समीकरण नही हैं। उदाहरण के लिए आपादन-विधि से की गई परिभाषा जिसे हमने निहितार्थक परिभाषा कहा है समीकरण नहीं है। आवर्ती परिभाषा भी समीकरण नही है। पुनश्च जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा ही एक मात्र परिभाषा विधि नही है। कुछ ऐसी परिभाषाएँ है जो विश्लेषणात्मक है। किन्तु उनकी विधि जाति-व्यवच्छेदक विधि नही है। उदाहरण के लिए, आवर्ती परिभाषाएँ जाति-व्यवच्छेदक-विधि से नहीं प्राप्त की जा सकतीं। अन्त मे हमने जाति-व्यवच्छेदक-विधि की कमियों को भी प्रदर्शित किया है। यद्यपि वह जीव-विज्ञान तथा वनस्पति-विज्ञान में आज भी उपयोगी है तथापि वहाँ भी वह पर्याप्त नही है क्योकि "डेसमिड" को उसके आधार पर पौधा नहीं कहा जा सकता और वह पशु की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु "डेसमिड" पशु नहीं है यद्यपि वह गति और संवेदना करता है।

किन्तु परिभाषा की विधियों का हमने जो निरूपण किया है वह परिपूर्ण

न होकर मात्र उपलक्षण है क्योंकि हमारे विचार से परिभाषा की अनेक और अनियत विधियाँ है। भाषा के नियम जितने विविध और अनियत है उतनी ही परिभाषा की विधियाँ भी विविध और अनियत है।

(११२) परिभाषा की आलोचना करते हुए आगडेन और रिचड्र्स ने कहा है कि सभी परिभाषाएँ सारत: तदर्थ (Ad hoc) होती है[४]। उनके इस कथन मे बहुत सच्चाई है। न्याय-दर्शन मे की गई परिभाषाओं को हम उदाहरण के रूप में ले सकते है। श्रीहर्ष ने न्याय-दर्शन की परिभाषाओं का खण्डन किया और शकर मिश्र तथा वाचस्पति मिश्र द्वितीय ने उन परिभाषाओं को श्रीहर्ष के खण्डन से बचाते हुए पुन: प्रस्तुत किया। इससे सिद्ध होता है कि ज्यो-ज्यो ज्ञान-विज्ञान का विकास होता है त्यों-त्यों पुनर्परिभाषा की आवश्यकता पडती है। देश, काल, कारण आदि की परिभाषा इसी नियम के अनुसार विज्ञान मे बदलती रही है। अत यह माना जा सकता है कि वैज्ञानिक विकास की किसी विशेष अवस्था पर जो परिभाषा की जाती है वह उस अवस्था मे पर्याप्त रहती है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि सभी परिभाषाएँ अपर्याप्त या गलत है। वास्तव में परिभाषाएँ सामान्य कथनो की भाँति सत्य या असत्य नही होती है। वे शुद्ध या अशुद्ध तथा पर्याप्त या अपर्याप्त होती है। किन्तु उनको सदैव और अधिक पर्याप्त बनाया जा सकता है। इसलिए परिभाषा का मूल्याकन प्रमाण या युक्ति के मूल्याकन मे भिन्न होता है। प्रत्येक परिभाषा किसी शास्त्र (System) से सम्बन्धित रहती है। ज्यों-ज्यो उस शास्त्र का विकास होता है त्यों-त्यो परिभाषा का भी विकास होता है जिसे परिभाषा का परिष्कार कहा जाता है। इस परिष्कार से परिभाष्य के स्वरूप का विलोप नही होता है वरन् उसका स्वरूप और अधिक स्पष्ट होता है। अतएव सभी परिभाषाओ को तदर्थ मानना स्वरूपवाद और प्रत्ययवाद के विरुद्ध नहीं है।

(११३) एडमन बर्क ने कहा है—"मुझे किसी परिभाषा के प्रति विशेष सम्मान नही है।" परिभाषा को प्राय: अनिश्चय और अज्ञान की चिकित्सा का उपाय माना जाता है। परन्तु जब हम परिभाषा करते हैं तो हम प्रकृति को अपने प्रत्ययों की सीमाओ के अन्दर बाँधने का खतरा मोल लेते है[५]। परिभाषा की यह आलोचना वास्तव में ज्ञानमात्र की आलोचना है। परन्तु यह ज्ञान को आत्मनिष्ठ (Subjective) बना देती है। ज्ञान सदैव किसी विषय का होता है। वह सदैव विषयोन्मुख होता है। इसी प्रकार पद किसी अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है। परिभाषा जिस ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है वह नहीं है वरन् विषयगत

है। हम अपने प्रत्ययो की सीमाओं के अन्दर किसी परिभाष्य को बांधते नहीं है, उल्टे हमारे सभी प्रत्यय एक नियम से प्रकट होते है और आपस मे एक नियम से सम्बन्धित होते है। उनके इस पारस्परिक सम्बन्ध को सूत्र-रूप मे जो वाक्य बनाता है वह परिभाषा है। अतएव परिभाषा के बिना हमारे प्रत्ययो का जगत् सम्भव ही नही है। इसलिए परिभाषा को प्रत्ययो का मूल माना जाता है। ज्यामिति के प्रत्यय इसके प्रमाण है जो आरम्भ मे की गई परिभाषाओ से विकसित होते है।

इस प्रसग मे पुन. कहा जाता है कि सभी परिभाषाएँ निराकरणीय हैं और वे अपने शास्त्र से बाहर की वस्तु है। उदाहरण के लिए, ज्यामिति की परिभाषाएँ ज्यामिति-शास्त्र के बाहर है। इस प्रसग मे कहा जा सकता है कि प्रयोगात्मक परिभाषाएँ, निहितार्थ-परिभाषाएँ, कोशीय परिभाषाएँ तथा विश्लेषणात्मक परिभाषाएँ, सन्दर्भात्मक परिभाषाएँ, आवर्ती परिभाषाएँ आदि अपने-अपने शास्त्रो से बाहर नही है बल्कि अपने शास्त्रों में ही अनुस्यूत है। केवल वस्तुवादी परिभाषाएँ अपने शास्त्रो से बाहर होती है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि वे निराकरणीय हैं। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि परिभाषाएँ वास्तव मे अधि-शास्त्रीय (Meta Scientific) है अर्थात् वे शास्त्र की भूमिका या नेपथ्य मे रहती है। उनकी भूमिका यदि न हो तो शास्त्र सम्भव नही हैं। यही युक्ति उनके औचित्य के लिए पर्याप्त है।

किन्तु प्रश्न है कि क्या सभी वस्तुएँ परिभाष्य है? दूसरे शब्दों में क्या प्रत्येक वस्तु की वास्तविक परिभाषा की जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर है कि जाति-व्यवच्छेदक-परिभाषा के अनुसार सर्वोच्च जाति की परिभाषा नहीं की जा सकती क्योंकि वह किसी जाति की उपजाति नहीं है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की परिभाषा नही की जा सकती क्योकि उसके व्यक्तिगत व्यवच्छेदक नही होते हैं। इस प्रकार परम्परा से माना जाता रहा है कि सर्वोच्च जाति परिभाषा से ऊर्ध्व है और व्यक्ति परिभाषा के नीचे है। उनके बीच की जितनी वस्तुएँ हैं वे सब परिभाष्य हैं।

पुनश्च चूँकि जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा वस्तुओं के एक विशेष वर्गीकरण पर आधारित है जिसे द्वैधीकरण (Dichotomy) द्वारा विभाजन कहते है, इसलिए जिन वस्तुओ का वर्गीकरण ऐसा नहीं हो सकता है जैसे देश, काल, ज्ञान आदि, उनकी जाति-व्यवच्छेदक-परिभाषा नही की जा सकती। परन्तु जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा ही एक मात्र परिभाषा नही है। परिभाषा की अन्य विधियाँ और प्रकार है जिनके द्वारा सभी वस्तुओं या विषयों की परिभाषा की जा सकती है वास्तव में

परिभाषा किसी विषय के ऐसे गुणो को बताती है जिनसे उनकी पहचान (Identification) होती है। बिना इस पहचान के किसी विषय का कोई उपयोग नही किया जा सकता। इसलिए प्रत्येक विषय की परिभाषा की जा सकती है। परन्तु यह प्रश्न अब दर्शन और तर्कशास्त्र का नहीं रह गया है, अपितु विविध विज्ञानो का है जो अपने विवेच्य विषयो की पहचान के नियम निर्धारित करने है।

(११४) वास्तव में तर्कशास्त्र मे प्रश्न किया जाता है कि क्या सभी पद या प्रत्यय परिभाषा-योग्य हैं ? इस प्रश्न को हम दो प्रश्नों मे बाँट सकते हैं :—

(१) क्या कोई पद अपरिभाष्य है ?

(२) क्या कोई प्रत्यय अपरिभाष्य है ?

पहले प्रश्न के उत्तर में डब्लू० ई० जान्सन का मत सर्वमान्य है। वे कहते हैं कि प्रत्येक पद की परिभाषा की जा सकती है, व्याकरण में उस पद का चाहे जो वर्गीकरण किया जाय[६]। चूँकि परिभाषा की अनेक विधियाँ है, इसलिए किसी-न-किसी विधि से प्रत्येक पद की परिभाषा अवश्य की जा सकती है। फिर चूँकि प्रत्येक पद का भाषा मे प्रयोग होता है, इस पद के व्यवहार से लोग उसका प्रयोग सीखते हैं, इसलिए आपादन-विधि के द्वारा उसकी परिभाषा संभव ही है। पुनश्च कोई पद अन्य पदों से पृथक् नही रहता है वल्कि वाक्य मे उससे संबधित रहता है। अतएव वाक्य मे पद का जो स्थान रहता है उसके द्वारा उसकी परिभाषा की जा सकती है।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने माना कि समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध है और कोई ऐसा ज्ञान नहीं है जो आगम या शब्द से न जाना जा सके[७]। व्याकरण-दर्शन की भाँति न्याय-दर्शन मे भी सभी पद को परिभाष्य माना जाता है।

परन्तु उपर्युक्त दूसरे प्रश्न के उत्तर पर सर्वसम्मति नही है। वाक्यपदीय की परम्परा को मानने वाले कहेगे कि सभी प्रत्यय परिभाष्य हैं, क्योंकि वे शब्दानुविद्ध है और सभी शब्द परिभाष्य है। परन्तु रसेल और मूर मानते है कि परिभाषा के बिना कुछ पदों को स्पष्ट जानना हमारे ज्ञान का आरम्भ-बिन्दु है। जब तक कुछ अपरिभाष्य पदों का ज्ञान हमे नही होता तब तक हम किसी पद की परिभाषा कर ही नही सकते। अतः कम-से-कम एक दो पदों को अवश्य अपरिभाष्य मानना पड़ता है।

इन दार्शनिकों का यह मत सिद्ध करता है कि वे वस्तुवादी परिभाषा के अर्थ में विश्लेषण करते हैं और कुछ पदों को उनके अर्थों के साथ इतना अभिन्न करते हैं कि उनका ज्ञान बिना किसी परिभाषा के द्वारा जाना जाता है यह

उल्लेखनीय है कि ऐसे पदो की निर्देशार्थक या सकेतार्थक परिभाषा भी संभव नही है, क्योंकि इन परिभाषाओ के लिए भी शब्द-बोध और भाषा-ज्ञान तथा चेष्टाओं (Gestures) और शब्दों का समायोजन आवश्यक है। अतः रसेल और मूर का यह कहना कि कुछ पद अपरिभाष्य है हमे वेदान्त के अनिर्वचनीयतावाद, बौद्धो के अव्याकृतवाद या मौनवाद और जैनियो के अवक्तव्यतावाद के निकट ला देता है।

वास्तव मे यहाँ शब्द और अर्थ के सबध का प्रश्न है और जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास कहते है[८], इसके तीन उत्तर है—पहला शब्द और अर्थ एक दूसरे से भिन्न है। दूसरा, शब्द और अर्थ एक दूसरे से अभिन्न हैं। शब्द और अर्थ एक दूसरे से भिन्न और अभिन्न दोनो है। इन तीनो मतो मे अभेदवाद और भेदा-भेदवाद को मानने मे अनेक कठिनाइयां है क्योंकि "अग्नि" कहने से किसी की जीभ जलती नही है। यदि अग्नि शब्द और अग्नि के अर्थ मे अभेद होता तो अग्नि शब्द के उच्चारण मात्र से जलन होती, किन्तु ऐसा नही है। इसलिए शब्द और अर्थ में अभेद-संबध नही है। उनमे भेद करना आवश्यक है। शब्द को इसलिए अर्थ का ज्ञापक या वाचक कहा जाता है। शब्द और अर्थ मे तादात्म्य सबध नही है। न्याय दर्शन और विश्लेषणात्मक दर्शन मे शब्द को सकेत माना जाता है जो किसी अर्थ का अभिव्यंजक होता है।

शब्द और ज्ञान के बारे मे भी भर्तृहरि का मत है कि शब्द ज्ञान-रूप है।[९] शब्द ज्ञान का परिणाम या विवर्त है। परन्तु दिग्नाग का मत है कि ज्ञान और शब्द एक दूसरे से अन्योन्याश्रित है[१०] तथा दोनो परस्पर कार्यकारण का सबध है। भर्तृहरि का मत प्रत्ययवादी है और दिग्नाग का मत भाषावादी या शब्दवादी है। दूसरे शब्दो में भर्तृहरि परिभाषा के स्वरूपवाद को मानते हैं और दिग्नाग भाषावाद को। इन दोनो मतो मे भर्तृहरि का मत अधिक समीचीन लगता है, क्योंकि उसको एक प्रकार से दिग्नाग भी मानते है। यदि ज्ञान को कारण और शब्द का कार्य माना जाय तो यह मत अन्ततः दिग्नाग को भी स्वीकार्य है। पुनश्च न्यायदर्शन में भी माना जाता है कि शब्द को ज्ञान-रूप मानने में कोई प्रमाण नही है। ज्ञान और शब्द भिन्न-भिन्न इन्द्रियो से उपलब्ध होते है। अतः वे दोनों विरुद्ध है। इस प्रकार न्याय-दर्शन भर्तृहरि और दिग्नाग दोनो के मतों से भिन्न एक तीसरे मत को मानता है जिसके अनुसार शब्द केवल ज्ञापक या अभिव्यंजक है।

ऊपर शब्द के बारे में जो कुछ कहा गया है वह परिभाषा पर भी लागू होता है, क्योंकि परिभाषा शाब्दिक होती है। कुछ ऐसा ज्ञान सभव है जो अनिर्वच-नीय हो। परन्तु उसका भी बोध किसी शब्द शक्ति द्वारा ही होता है वेदान्त

से माना जाता है कि ब्रह्म का बोध लक्षणाशक्ति के द्वारा होता है जो शब्द की गौणी शक्ति (Secondary Meaning) है। नरहरि इस प्रसंग में कहते है कि जिस लक्षणा-शक्ति से ब्रह्म का बोध होता है वही एक मात्र ब्रह्म का लक्षण है[11]। इस तरह वे लक्षणा से विषय या तत्व का लक्षण करते है। अर्थात् लक्षणा भी एक प्रकार का लक्षण है।

(११५) वास्तव मे भारतीय न्याय-दर्शन मे जिसे शक्तिवाद कहा जाता है वह विश्लेषणात्मक दर्शन के अनुसार परिभाषा-न्याय या परिभाषा के तर्कशास्त्र के अन्तर्गत है। शक्ति ज्ञान के आठ उपाय है—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त-वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और प्रसिद्धपद-सानिध्य[12]।

(१) कर्मकारक का चिह्न "को" है, ऐसा व्याकरण से ज्ञान होता है। जहाँ को का चिह्न हो वहाँ कर्म है, जैसे राम को देखो। यहाँ राम देखना क्रिया का कर्म है।

(२) गवय गो-सदृश है, यह सुनकर गो-सदृश पशु को देखकर जब कोई व्यक्ति इसे गवय कहता है तो उसको उपमान से शक्ति-ज्ञान होता है।

(३) कोश से प्राय पर्यायवाची शब्दों का ज्ञान होता है। जैसे वारि, जल सलिल, ये शब्द एकार्थक है, यह ज्ञान कोश से होता है।

(४) आप्तवाक्य किसी प्रमाणिक पुरुष या ग्रन्थ का वचन है जैसे कोई कहे कि इगुदी एक पेड है तो इससे इगुदी का ज्ञान होता है।

(५) प्राय: पद-ज्ञान व्यवहार से होता है। गिलास लाओ, ऐसा जब माँ कहती है और गिलास दिखाती है तो लड़की गिलास लाती है। इससे लड़की गिलास शब्द का अर्थ जान लेती है।

(६) कभी वाक्य-शेष से किसी पद का ज्ञान होता है जैसे यदि कोई कहे कि यह चरु यवा से बना है, और यव बसन्त मे भी खड़े रहते है जबकि पतझड़ हो जाता है, तो वहाँ यव का अर्थ जौ है, और काकुन (एक मोटा अन्न) नही है। ऐसा इस वाक्य शेष से ज्ञात होता है कि यव बसन्त मे भी खड़े रहते है जबकि पतझड हो जाता है।

(७) कही-कहीं विवरण से शब्द का अर्थ होता है जैसे जो गाड़ी चलावे यह चालक है—यहाँ चालक पद का अर्थ है जो गाड़ी चलावे, इस विवरण से हो जाता है।

(८) प्रसिद्ध पद के साथ जो शब्द रहे उसके अर्थ का ज्ञान उस पद के सान्निध्य से हो जाता है जैसे आम के पेड पर कोयल बोल रही है। यहाँ "आम

के पेड़ पर" यह प्रसिद्ध पद है। फिर इसके सान्निध्य मे जो कोयल पद है उसका ज्ञान इस सान्निध्य से हो जाता है।

इन आठ उपायो के अतिरिक्त एक नवां उपाय वेदान्त-सिद्धान्त के अरुन्धती-न्याय के अनुसार प्रो० संगमलाल पाण्डेय ने जोड़ा है। वह है अंगुलि-निर्देश या संकेत तथा चेष्टा द्वारा अर्थ-बोध कराना[13]। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि शक्ति-ग्रह के उपर्युक्त नौ उपायों का समन्वय करके एक एकीकृत सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु उनका कहना है कि आधुनिक विश्लेषण-कर्ता दार्शनिक इन उपायो मे से किसी एक उपाय को अधिक महत्त्व देते है। कोई व्यवहारवादी है और केवल पद-व्यवहार या पद-प्रयोग के आधार पर विश्लेषण करता है तो कोई विवरणवादी है और वर्णन या अभिधान द्वारा विश्लेषण करता है। कोई निर्देशवादी या संकेतवादी है और संकेतात्मक तथा निर्देशार्थक परिभाषा का विश्लेषण करता है। इसी प्रकार कुछ लोग व्याकरणवादी है तथा वाक्य-संरचना के माध्यम से विश्लेषण या परिभाषा करते है। कुछ लोग साम्यानुमानवादी है और सादृश्य के आधार पर विश्लेषण या परिभाषा करते है[14]। इस प्रकार विश्लेषणात्मक दर्शन मे संरचनात्मक परिभाषा (Syntactic Definition), अर्थनिष्ठ परिभाषा (Semantic Definition) और प्रयोगनिष्ठ परिभाषा (Pragmatic Definition) का विकास हुआ। शब्द-शास्त्र या भाषा-शास्त्र के अन्तर्गत संरचना-विज्ञान (Syntactics), अर्थ-विज्ञान (Semantics) और प्रयोग-विज्ञान (Pragmatics) की तीन शाखाएँ है जिनका दर्शनशास्त्र और भाषा-विज्ञान दोनों के क्षेत्र मे आजकल विशेष महत्त्व है। इस प्रसग में जो आनुभविक तथा वर्णनात्मक-विधि से अनुसन्धान किया जा रहा है वह भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत है। पुनः इन क्षेत्रों मे जो परिभाषा-संबंधी कार्य हो रहा है उसका महत्त्व दर्शन और तर्कशास्त्र के क्षेत्र मे युगान्तरकारी है। निर्देश, संकेत, पर्याप्ति समरूपता, समानार्थकता, अभेद, अर्थवत्ता, तात्पर्य, प्रयोग, उल्लेख आदि का स्पष्टीकरण समकालीन दर्शन मे विशेष रूप से किया जा रहा है। इन दिशाओ मे जो विश्लेषण किया जा रहा है उससे परिभाषा का तर्कशास्त्र विकसित हो रहा है। भारतीय न्याय-दर्शन में इस प्रकार के विश्लेषण हुए थे और उनके फलस्वरूप शक्तिग्रह के उपाय, शक्ति के नियामक तत्त्व, शब्द की वृत्तियाँ तथा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध विकसित हुए थे। किन्तु उनमें विश्लेषण के परिणाम ही अधिक देखने को मिलते है और विश्लेषण की विधियों का वर्णन कम मिलता है। आधुनिक विश्लेषण-दर्शन और न्याय-दर्शन के (अनुशीलन से भारतीय न्याय दर्शन की (पद्धतियों का पुनर्जागरण और पुन प्रसार है। इस से

दोनों दर्शनों की दूरी कम होगी और आधुनिक विश्लेषण-दर्शन को भारतीय दार्शनिक विश्लेषण के परिणामो से बल मिलेगा।

(११६) परिभाषा के क्षेत्र मे यहाँ जो अनुसन्धान किया गया है वह समकालीन दर्शन में प्रासंगिक है क्योंकि वह समकालीन दर्शन के भाषा-दर्शन तथा अर्थानुसन्धान के क्षेत्र में उपयोगी है। परिभाषा अर्थ के स्पष्टीकरण मे नियामक भूमिका निभाती है।

अर्थ (Meaning) के अनेक प्रकार है जिनमें से एक प्रकार शब्दार्थ (Word Meaning) है। पुनश्च शब्दार्थ के अनेक प्रकार है जिनमे एक प्रकार परिभाषा (Definition) है जो सुनिश्चित और सुस्पष्ट शब्दार्थ है। जैसे ज्ञान, ज्ञेय और विषय ज्ञानमीमांसा के तीन तत्त्व है वैसे ही पद, परिभाषा और विषय, शब्दार्थ-मीमांसा के तीन तत्त्व है। परिभाषा वास्तव में एक क्रिया या शब्द-व्यापार है, जो पद को विषय से सम्बन्धित करती है। इस प्रकार परिभाषा-सिद्धान्त शब्दार्थ का सिद्धान्त है।

शब्दार्थ के बारे मे तीन सिद्धान्त है जिन्हें—

(१) शब्दार्थ का प्रत्ययात्मक सिद्धान्त (Ideational Theory of Meaning)।

(२) शब्दार्थ का व्यवहारवादी सिद्धान्त (Behavioural Theory of Meaning)।

(३) शब्दार्थ का संदर्भात्मक सिद्धान्त (Referential Theroy of Meaning) कहा जाता है।

प्रथम के अनुसार कोई पद किसी विषय "क्ष" के लिए प्रयुक्त होता है क्योंकि उसका साहचर्य "क्ष" के प्रत्यय से है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार कोई पद किसी विषय "क्ष" के लिए इसलिए प्रयुक्त होता है कि वह श्रोता के ऊपर वही प्रतिक्रिया (Response) पैदा करता है जो "क्ष" करता है। अन्त मे तीसरे मत के अनुसार कोई पद अपने विषय "क्ष" का नामकरण करता है, उसको उद्दिष्ट या सन्दर्भित करता है। इनमे से तीसरा मत पर्याप्त नहीं है, क्योंकि (क) कुछ शब्द है जैसे अरे, हाय जिनका कोई उद्दिष्ट विषय नही है। इन विस्मयादि बोधक अव्ययों के अतिरिक्त समुच्चयबोधक अव्यय, जैसे और, किन्तु आदि किसी विषय को सूचित नहीं करते है। (ख) कुछ शब्द हैं जिन्हें सूचक पद (Indexical) कहा जाता है, जैसे मैं, तुम, यहाँ, वह, अब आदि जिनका अर्थ निश्चित रहता है किन्तु सन्दर्भ बदलता रहता है। (ग) कुछ ऐसे पद हैं जो परस्पर भिन्न हैं परन्तु उनका सन्दभ एक रहता है जैसे भोर का तारा शाम का तारा है।

(घ) कुछ ऐसे शब्द है जैसे आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र, जिनका अर्थ है किन्तु वे कोई वस्तु नही है। (च) फिर कोई शब्द जैसे घोड़ा किसी एक घोडे का नाम नही है किन्तु घोड़ा जाति का नाम है।

इन युक्तियो के कारण संदर्भ-सिद्धान्त पर्याप्त नही है। इसी प्रकार अन्य दो सिद्धान्तो मे भी कमियाँ है क्योकि वे उद्दिष्ट विषय का पूरा निराकरण करते हैं और लोकमत मे ऐसे अनेक पद है जो विषयो के लिए आते है, न कि प्रत्ययो के लिए या प्रतिक्रियाओ के लिए।

किन्तु इन तीनों सिद्धान्तों की ऐसी व्याख्या की जा सकती है जिससे शब्दार्थ के दो अभिन्न प्रयोग सम्भव है। यही अभिन्नता परिभाषा का समीकरण है। इसके साथ तीनो सिद्धान्तो का मेल बैठाते हुए विलियम पी० एल्सटन (William P. Alston) कहते है—संदर्भात्मक सिद्धान्त की यह व्याख्या की जा सकती है कि दो पदो का एक और अभिन्न प्रयोग होता है, यदि और केवल यदि वे दोनो एक ही विषय को उद्दिष्ट करते हो, इसी प्रकार यदि दोनों पद किसी एक प्रत्यय से सहचरित है तो प्रत्ययात्मक सिद्धान्त आ जायेगा और यदि दोनो पदो मे एक ही उत्तेजना-प्रतिक्रिया (Stimulus Response) सम्बन्ध निहित है तो व्यवहारवादी-सिद्धान्त लागू हो जायेगा।[१५] इस प्रकार इन तीनो सिद्धान्तो की अनुकूलता परिभाषा-सिद्धान्त से दिखायी जा सकती है।

पुनश्च आधुनिक विश्लेषण-दर्शन में शब्द और वस्तु या भाषा और जगत् के सम्बन्ध का विशेष अनुसन्धान किया जा रहा है और इस प्रसंग मे सदर्भ-सिद्धान्त और सकेतात्मक परिभाषा तथा निर्देशात्मक परिभाषा का विचार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आजकल इन दोनों परिभाषाओं का जो विवेचन हो रहा है वह भाषिक नियमो का ऐसा उद्घाटन कर रही है जैसे पहले दर्शन के इतिहास मे कभी नही हुआ था। इस प्रसङ्ग मे एक मत आकारवादी तर्कशास्त्रिणों का है जिनके विश्लेषण मे संदर्भित विषय का अपसारण (Elimination) हो जाता है और शब्दार्थों के पारस्परिक सम्बन्धो से ही समस्त अर्थ की व्याख्या हो जाती है। उनके विश्लेषण मे शाब्दिक परिभाषा का ही महत्त्व है और वास्तविक परिभाषा की कोई भूमिका नही है। किन्तु हमने इस मत का निराकरण किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि यह विश्लेषण भी प्रत्यय का विश्लेषण है और इस कारण यह भी एक प्रकार की वास्तविक परिभाषा है। परन्तु यह सत्य है कि प्रत्ययात्मक विश्लेषण भौतिक विषय का विश्लेषण नही है। उदाहरण के लिए, जैसे रसायन—विज्ञान मे जल का विश्लेषण H_2O में किया जाता है वैसा प्रत्ययात्मक विश्लेषण नही है। फिर भी मक विश्लेषण निरा शाब्दिक विश्लेषण नही है निरा शाब्दिक

विश्लेषण व्युत्पत्ति-मूलक होता है और प्रत्ययात्मक विश्लेषण इसके विपरीत प्रवृत्ति-मूलक होता है। अतएव उसको भी हमने वास्तविक परिभाषा के ही अन्तर्गत रखा है।

(११७) तार्किक दृष्टि से परिभाषा कोई संज्ञापद नहीं है बल्कि क्रिया-पद है। इस अर्थ में "लक्षण" पद "परिभाषा" पद से अधिक समीचीन है। यह जिस क्रिया की सूचना देता है वह न्याय है जैसा कि मल्लिनाथ तथा नागोजी भट्ट ने स्पष्ट कहा है। परन्तु जब इस क्रिया को हम वक्ता की विवक्षा के दृष्टिकोण से देखते है तो उसको विश्लेषण कहा जाता है। विश्लेषण विवक्षा का स्पष्टीकरण है। इसके द्वारा किसी पद, प्रत्यय या पदार्थ का भेदन-छेदन या विवेचन किया जाता है। इस प्रकार परिभाषा की सभी विधियों को विश्लेषण की विधियाँ कहा जा सकता है। यद्यपि विश्लेषण की ऐसी भी विधियाँ है जो परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती हैं, किन्तु परिभाषा की सभी विधियाँ विश्लेषण के अन्तर्गत आती हैं। परिभाषा-न्याय विश्लेषण-न्याय है। परिभाषा विश्लेषण का एक प्रकार है जो कदाचित् उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार है।

संदर्भ और टिप्पणी

१ उत्तररामचरित, भवभूति १-१०।

२ वाक्यपदीय, भर्तृहरि, सं० के० वी० अभ्यकर और वी० पी० लिमये, पूना १९६५, १-१३८।

३ Definitions are rules for the translation of one language into another". 3,43, Tractatus Logico Philosophicus, Ludwig Wittgenstein, Routledge and Kegan Paul Ltd, London 1962.

४ The Meaning of Meaning, C K. Ogden and I. A. Richards, London, 1938, p. 11.

५ Definition, Richard Robinson, उद्धृत ग्रन्थ पृ० ६।

६ Logic, Part I, W. E. Johnson, p. 103.

७ न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
वाक्यपदीय आफ श्री भर्तृहरि, स० के० वी० अभ्यंकर और वी०पी० लिमये, पूना १९६५ १ १२३

८ गिरा अर्थ जल बीचिसम, कहियत भिन्न-न-भिन्न ।
रामचरितमानस, तुलसीदास, बालकाड, दोहा १८ ।

९ अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम् ।
व्यक्तये स्वरूपरूपस्य शब्दत्वेन निवर्तते ॥
विद्यावैजयन्तीनिबन्धमाला, शब्द-तत्त्वम्, केदारनाथ ओझा, काशी, १९७८
पृ० १६१ ।

१० विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।
कार्यकारणं तेषां नार्थं शब्दा स्पृशन्त्यपि ॥
Whither Indian Philosophy, S L. Pandey, Allahabad, 1978, p. 36-37 मे उद्धृत ।

११ लक्ष्ये लक्षणवल्लक्ष्यमिहलक्ष्ये न लक्षणम् ।
विलक्षणमिदं लक्ष्यं लक्षणैरत्र लक्षणम् ॥
बोधसार, नरहरि, पृ० ५०८ ।

१२ शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

१३ भारतीय तर्कशास्त्र का आधुनिक परिचय, प्रो० संगमलाल पाण्डेय, इलाहाबाद, पृ० २९ ।

१४ वही पृ० २९ ।

१५ Philosophy of Language, William P. Alston, 1964, p. 22 ।

नामानुक्रमणिका

अन्नंभट्ट २६, ६२
अभ्यंकर, के० वी० ४४, १३९
अथल्ये, यशवंत वासुदेव ४९, ६२
अरस्तू १८, ५६, ६५, ६९, ७४, ७९, ८१, ९४, १०१,१२७
अरिस्टाटिल ७६, दे० अरस्तू ।
आगडेन, सी० के० १३१, १३९
आश्वलायन ३९
आस्टिन ८०, १०७
इगल्स डेनियल हेनरी होग ६०, ६४
उदयनाचार्य ६४
उपाध्याय, गंगेश २८, ३१, ५७
उपाध्याय, गोकुलनाथ २३
एअर, ए० जे० ४९, ९९, १०५, १०६, ११७, ११९, १२०
एडवर्ड्स, पाल २०, ९१, १२४, १२५
एन्सकोम, जी० ई० एम० ११४, ११५
एम्ब्रोज, एलाइस ७६
एलसटन, विलियम, १३८, १४०
ऐबेल्सन, रेजियल १८, ७८, ७९, ८१
ओखम ५३, ११०
ओझा, केदारनाथ ६४, १४०
क्वाइन, डब्लू० वी० ८०, ८१
कणाद १०१
कांट, इमैन्युअल २०, १८, ४९, ७९, ८१, ९०
कोपी, इरविंग अम० ३३,३७,३८,६६,७३,७४,७६,८८,१०३,१०५,१२९
कात्यायन ३९, ४३, ६१, ६२
कार्नप, रुडोल्फ ७७, ८०, ८१, ९९, १०६, ११७-१२०
कावेल, ओ० ई० वी० ५५, ६४
केम्पस्मिथ, नार्मन २०
कोपलोविश, आई० एम० ९७, ७६
कोहेन, एम०, आर०, २७, ३१
गदाधर ६४
गुडमैन ८०, ८१
गुहा, दिनेश चन्द्र ५५, ६३
गौतम १८

चक्रवर्ती, समीरण चन्द्र ६१, ६२
चित्सुख ५६
जगन्नाथ, पण्डितराज ५९
जान्सन डब्लू० ई० ८३, ८५, ८६, ९६, ९८, ११३, १३३, १३९
जार्ज, डी० वी० ६१
जेम्स, विलियम ३४, ३५, १०१
जैमिनि ३९, ६१, ६२
जोसेफ, यच० डब्लू० वी० ६६, ७६
झलकीकर, भीमाचार्य ३१, ६२
डेकार्ट ७९, ८०, ८१
दिवेतिया, मिम एस० एच० ३१
तुलसीदास १३४, १४०
दिग्नाग १३४
द्वारिकादास ३१
धर्मकीर्ति ५३
नरहरि १३५,१४०
नागार्जुन २२,२४,३०
नीले, मर्था ७६
नीले, विलियम ७६
नेलसन ८०,८१
नैगल, ई० २७, ३१
प्लेटो ६७, ७९, ८१, ८२, १२७
पतंजलि ४४, ४६, ६२
पर्स, चार्ल्स ३३, १२७
पाण्डेय, प्रो० संगमलाल ३४, ३८, १०५ १३६, १४०
पाणिनि १९, २८, २९, ४३, ४५, ४७, ६२
पार्फरी ६५, ६९
पुरुषोत्तम देव ४४
पैस्कल ८०, ८१, ८५, ८६, ९९
फ्रेग, गाटलोब ७५, ७७, ८२, १२७
वर्क, एडमन १३१
वर्गसा, हेनरी १०७
बार्कर, स्टीफन यफ ७२, ७३, ७६
बारलिंगे, प्रो० एस० एस० ४९, ६२
बेकन ८०
बैडले, एफ० एच० ४९, ५३, १०७
बोडास ६२
बौधायन ३१
ब्राड सी० डी० ११२
ब्रिजमन पी० डब्लू० ९५

लैंक, मैक्स १२५
भट्ट, चिन्नं ५०
भट्ट, जयन्त ५१, ५२, ६३
भट्ट, जयराशि २२ २५, ३०
भट्ट, नागोजी ४८, ४६, ६२, १३९
भट्ट, नीलकंठ ४०
भट्टाचार्य, गदाधर ५५
भर्तृहरि १३३, १३४, १३९
भवत्रात ४६, ६२
भवभूति १२६, १३९
भारद्वाज २९, ६१
भासर्वज्ञ २३, २४, २५, २६, ३०, ३८, ४९, ५०, ५१, ५३
भोजदेव ४८
मतिलाल विमलकृष्ण ५४, ५५, ५९, ६३, ६४
मल्लिनाथ ४६, १३९
माघ ४६, ६२
माधवाचार्य २६
मिल, जान स्टुअर्ट ७८, ८०, ८५, ९८
मिश्र अभिनव वाचस्पति २३
मिश्र, केशव २६, ५०
मिश्र, गोरखनाथ ३८, १०५
मिश्र, जयदेव ४७
मिश्र, भैरव ४६ ६२
मिश्र, नारायण ६२
मिश्र, वाचस्पति २५, २६, ३१
मूर, जार्ज एडवर्ड, २४, ४९, ५५ ७८, ७९, ८०, ८१, ९०, १०६, १०७, १११-११३, १२४, १२७, १३४, १३४
मोलियर २७
योगीन्द्रानन्द ३०, ६३, ६४
रसेल १९, ७७, ८१, ९६, १०६, १०७, १०८-१११, ११२, ११५, ११६, १२१, १२४, १२७, १३३
राइल, गिलबर्ट ८०, १०६, ११६-११७
राजेश्वर शास्त्री ६३
राबिन्सन, रिचर्ड, १८, २०, ६७, ६८, ६९, ७४, ७६, ७७, ८१, ८२, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९६, ९७, ९९, १००, १०१, १०२, १०४, १०५; १२६, १२५, १२९, १३१
रिकर्ट ७९, ८१, ९०
रिचर्ड्स, आइ० ए० १३१, १३१
लॉक जान ७९ ८१ ८५ ९०
लाटयायन २९

लिमये, वी० पी० १३९
लेविस, सी० आई० ६८, ७९, ८१, ९०, ९६, ९७, १२७
लेस्नीवस्की, यस० ७१, १०५

व्याडि ४४
वाइजमन, एफ० ८४, ९१, १००, १०१, १०५
वाइट्ज, मारिस ११३
वात्स्यायन १८, २६, ३१, ४७, ६२

वाराह ३९
विजडम, प्रो० जॉन २९, १०६, ११६
विट्गेन्स्टाइन, लु० १९, ६१, ८०, ८१, १०६, ११०, ११४-११५, १२८, १३९
विलसन, कुक १०१
शंकराचार्य ५३, ५७
शबर ३२
शिरोमणि, रघुनाथ ५५, ५६, ५९, ६०
शुक्ल, सूर्यनारायण ६३
शुक्ल, वेणीमाधव ५८, ६४
शेषाद्रि ४४
श्री हर्ष २१, २२, २३, २४, २५, ३०, १३९
स्काट, वाल्टर १०८

सरस्वती, मधुसूदन ५९
सरस्वती, महादेवानन्द ६८
साम्ब्यायन ३९

सीरदेव ४४
सुकरात ७९
सुप्पीज, पैट्रिक ६७, ७०, ७१, ७६
स्ट्रासन ५६, १०७
स्टीवेन्सन, सी० एल० ८८, १०३, १०५
स्टबिंग, एल० एस० ६६, ६७, ६८, ७६, १०६, १२१, १२२, १२५

ह्वाइटहेड १९
ह्यूम, डेविड ७९, ८१, ९०
हरिभास्कर ४४

हाब्स, ८०
हास्पर्स, जान २८, ३१
हिरण्यकेशिन् ३९
हुस्सर्ल, ७९, ८१; ९०
हेमहंसगणि ४४, ४५
हेम्पेल ८० १०६